प्रकाशक :—
अभिनव प्रकाशन लिमिटेड
पटना

द्वितीय संस्करण
मूल्य ४)

मुद्रक :—
दी न्यू प्रेस, कदमकुआँ
पटना

विषय-सूची

कम छः हजार वर्षों से निरन्तर होती आ रही है। इसके लक्षाधिक ग्रन्थों के पठन-पाठन और चिन्तन में भारतवर्ष के हजारों पुश्त तक के करोड़ों सर्वोत्तम मस्तिष्क दिनरात लगे रहे हैं और आज भी लगे हुए हैं। मैं नहीं जानता कि संसार के किसी देश में इतने काल तक, इतनी दूरी तक व्याप्त, इतने उत्तम मस्तिष्कों में विचरण करनेवाली कोई भाषा है या नहीं। शायद नहीं।

फिर भी भाषा की समस्या इस देश में कभी उठी ही नहीं हो सो बात नहीं है। भगवान बुद्ध और भगवान महावीर ने संस्कृत के एकाधिपत्य को अस्वीकार किया था, उन्होंने लोकभाषा को आश्रय करके अपने उपदेश प्रचार किए थे। ऐसा जान पड़ता है कि संस्कृत भाषा को इस युग में पहली बार एक प्रतिद्वन्द्विनी भाषा का सामना करना पड़ा था। जहाँतक बौद्ध-धर्म का सम्बन्ध है, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि उस युग की लोकभाषा कहे जानेवाली पाली सचमुच ही बुद्धदेव के मुख से उच्चरित भाषा थी या नहीं। प्रियदर्शी महाराज अशोक ने दृढ़ता के साथ लोकभाषा को प्रचारित करना चाहा था। इसका सबूत हमारे पास है और सीलोन तथा बर्मा आदि में प्राप्त पाली भाषा का बौद्ध साहित्य भी हमें बताता है कि बुद्धदेव ने सिर्फ इस लोकभाषा में उपदेश ही नहीं दिया था बल्कि निश्चित रूप से अपनी वाणी को संस्कृत रूपान्तर करने का निषेध भी किया था। यह साहित्य स्थविरवादियों का है जो कई बौद्ध-सम्प्रदायों में से एक है। आधुनिक काल में

बौद्ध साहित्य की जब पहले-पहल इस देश में चर्चा शुरू हुई थी तब इन पाली ग्रन्थों को एकमात्र प्रमाण मान लिया गया था और उस समय जो कुछ कहा गया था वह अब भी संस्कार रूप से बहुत से सुसंस्कृत जनों के मन पर रह गया है। परन्तु सही बात यह है कि स्थविरवादियों का यह साहित्य विशाल बौद्ध-साहित्य का एक अत्यन्त अल्प अंश मात्र है। न तो वह एकमात्र बौद्ध-साहित्य ही है, न सर्वाधिक प्रामाणिक साहित्य ही है और न यही जोर देकर कहा जा सकता है कि यही सब से अधिक पुराना साहित्य है। इस शास्त्र का संकलन कई बड़ी बड़ी संगीतियों में हुआ है। यह जानी हुई बात है कि बुद्धदेव के निर्माण के बाद उनके वचनों को ठीक-ठीक संग्रह करने के लिये बौद्ध आचार्यों की कई बड़ी बड़ी सभाएँ हुई थीं। इन्हें संगीति कहा जाता है। अशोकसंगीति के अवसर पर १८ बौद्ध सम्प्रदायों की चर्चा मिलती है। इन सब के अलग अलग पिटक थे और इनमें सिर्फ पाठ का ही भेद नहीं था; विषय-वस्तु और भाषा का भी भेद था। बहुत पुराने काल में हीनयान और महायान दोनों ही प्रधान बौद्ध शाखाओं के ग्रन्थ संस्कृत और अर्द्ध-संस्कृत में लिखे जाने लगे थे। आज इनमें का अधिकांश खो गया है। फिर भी आज नेपाल से तो कल तुर्किस्तान और मध्य एशिया से नये नये ग्रन्थ मिलते रहते हैं और बौद्ध-साहित्य की भाषा के सम्बन्ध में किए गए पूर्ववर्ती अनुमानों को धक्का मार जाते हैं।

सातवीं शताब्दी में इन बौद्ध-ग्रन्थों का एक विशाल साहित्य था। चीनी यात्री हुएन्तसांग उन दिनों जब इस देश में आए थे तब वे स्थविरवादी, महासांघिक, महीशासक, काश्यपीय, धर्मगुप्त, सर्वास्तिवादी आदि सम्प्रदायों के ५६२ ग्रन्थ अपने साथ ले गए थे। ये अधिकांश संस्कृत में थे। इस प्रकार यद्यपि एक सम्प्रदाय की गवाही पर हम पाली को संस्कृत की प्रतिद्वन्दिनी भाषा के रूप में पाते हैं, तथापि बहुत शीघ्र ही संस्कृत ने उस प्रतिक्रिया पर विजय पा ली थी।

भगवान महावीर के द्वारा पुनरुज्जीवित जैनधर्म के विषय में भी यह एक ही बात कही जा सकती है। सन् ईसवी के बाद के सिद्धान्तोत्तर साहित्य में धीरे धीरे संस्कृत का प्रवेश होने लगा और जैन आचार्यों ने नाना काव्य और नाटकों से भाषा को समृद्ध ही नहीं बनाया, उसमें नवीन प्राण भी संचारित किए। मैंने जैन-प्रबन्धों की प्राकृतगंधी संस्कृत देखी है और मैं साहसपूर्वक कह सकता हूँ कि संस्कृत को इतना सरल और प्रांजल बनाना एकदम नवीन और स्फूर्तिदायक प्रयास था। जैन मुनियों ने इसमें प्रांजलता ले आने में कमाल का काम लिया है। जैनधर्म की श्रेष्ठ चिन्ता तो उनके दर्शन-शास्त्र हैं, जो अधिकांश में संस्कृत ही हैं। इस साहित्यांग ने संस्कृत के दर्शन-साहित्य को नये सिरे से उत्तेजना दी है। जिन दिनों भारतवर्ष की सांस्कृतिक अवस्था अत्यन्त उतार थी उन दिनों भी जैन-दर्शन और

न्यायदर्शन की वहसों ने भारतीय मस्तिष्क में थोड़ी बहुत गर्मी बनाए रखने का आश्चर्यजनक कार्य किया था।

मेरे कहने का तात्पर्य इतना ही है कि यद्यपि कभी इस भाषा में और कभी उस भाषा में धर्मोपदेश और काव्य आदि की रचना के प्रमाण पाए जाते हैं परन्तु सब मिलकर पिछले कई सहस्राब्दकों तक भारतवर्ष के सर्वोत्तम को—उसके ज्ञान और विज्ञान को, उसके दर्शन और अध्यात्म को, उसके ज्योतिष और चिकित्सा को, उसकी राजनीति और व्यवहार को, उसके कोष और व्याकरण को और उसकी समस्त चिन्ता को - इस भाषा का ही सहारा मिला है।

विदेशियों के झुण्ड बराबर इस देश में आते रहे हैं और आकर इन्होंने बड़ी जल्दी सीख लिया है कि संस्कृत ही देश में उनके काम की भाषा हो सकती है। यह आश्चर्य की बात कही जाती है कि संस्कृत भाषा का सब से पुराना शिलालेख जो अब तक पाया गया है वह गिरनारवाला शक महाक्षत्र रुद्रदामा का शिलालेख है जो सन् ईसवी के लगभग डेढ़-सौ वर्ष बाद खुदवाया गया था। इस शिलालेख ने उस भ्रम का निराकरण कर दिया है जो ऐतिहासिक पंडितों द्वारा प्रचारित किया गया था कि संस्कृत का अभ्युत्थान बहुत शताब्दियों बाद गुप्त सम्राटों के हाथों हुआ है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि गुप्त सम्राटों के युग से संस्कृत भाषा ज्यादा वेग से चल पड़ी थी, परन्तु यह नितान्त गलत बात है कि उससे पहले उसकी

(संस्कृत भाषा की) धारा एकदम रुद्ध हो गई थी।

शुरू-शुरू में मुसलमान बादशाह भी इस भाषा की महिमा हृदयंगम कर सके थे। पठानों के सिक्कों से नागरी अक्षरों का ही नहीं संस्कृत भाषा का भी अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है। परन्तु बाद में जमाने ने पलटा खाया और अदालतों और राज-कार्य की भाषा फारसी हो गई। इस देश के एक बड़े समुदाय ने नाना कारणों से मुसलमानी धर्म को वरण किया और फलतः एक बहुत बड़े सम्प्रदाय की धर्मभाषा अरबी हो गई। यह अवस्था अधिक से अधिक चार पाँच-सौ वर्ष तक रही है। परन्तु आप भूल न जायँ कि इस समय की भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिन्ता का स्रोत संस्कृत के ही रास्ते ब।रहा था। नाना शास्त्र-ग्रन्थों की अतुलनीय टीकाएँ, धर्मशास्त्रीय व्यवस्था के निबन्ध-ग्रन्थ, दर्शन और अध्यात्म विषयक अनुवाद और टीका-ग्रंथ, और सब से अधिक नव्य-न्याय और न्यायानुप्राणित-व्याकरण-शास्त्र इसी काल में लिखे जाते रहे। इस युग में यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों में से मौलिक चिन्ता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गई थी। कुछ शताब्दियों तक भारतवर्ष एक विचित्र अवस्था में से गुजरा है। उसके न्याय, राजनीति और व्यवहार की भाषा फारसी रही है, हृदय की भाषा तत्तत प्रदेशों की प्रान्तीय भाषाएँ रही हैं और मस्तिष्क की भाषा संस्कृत रही है। हृदय की भाषा बराबर किसी न किसी रूप में देशी भाषाएँ रही हैं। यह और बात है कि दूर पड़ जाने से

पिछले हजारों वर्षों की देशी भाषा का साहित्य आज हम न पा सकें पर वह वर्तमान जरूर रहा है और उसका सम्मान भी हुआ है। मैं आज इस बात की चर्चा नहीं करूंगा। मैंने अन्य सप्रमाण दिखाया है कि इस देश में देशी भाषाओं में सदा काव्य लिखे जाते रहे हों सिर्फ यही बात नहीं है बल्कि उनका भरपूर सम्मान भी बराबर होता रहा है।

एक बार मेरे इस कथन को संक्षेप में आप अपने सामने रखकर देखें तो हमारी वर्तमान भाषा-समस्या काफी स्पष्ट हो जायगी। मैंने अब तक जो आपको प्राचीन-काल के खँडहरों में भटकाया वह इसी उद्देश्य से। संक्षेप मे बात इस प्रकार है कि—

(१) भारतवर्ष के दर्शन–विज्ञान आदि की भाषा सदा संस्कृत रही है।

(२) उसके धर्म प्रचार की भाषा अधिकांश में संस्कृत रही है, यद्यपि बीच-बीच में साहित्य के रूप में और सदैव बोल-चाल के रूप में देशी भाषाएँ भी इस प्रयोजन के लिये काम में लाई जाती रही हैं।

(३) आज से चार पांच–सौ वर्ष पहले तक व्यवहार, न्याय और राजनीति की भाषा भी संस्कृत ही रही है। पिछले चार पांच–सौ वर्षों से विदेशी भाषा ने इस क्षेत्र को दखल किया है।

(४) काव्य के लिये सदा से ही कथ्य देशी भाषाएँ काम में लाई गई हैं और संस्कृत भी सदा इस कार्य के उपयुक्त मानी गई है।

(संस्कृत भाषा की) धारा एकदम रुद्ध हो गई थी ।

शुरू-शुरू में मुसलमान बादशाह भी इस भाषा की महिमा हृदयंगम कर सके थे । पठानों के सिक्कों से नागरी अक्षरों का ही नहीं संस्कृत भाषा का भी अस्तित्व सिद्ध किया जा सकता है । परन्तु बाद में जमाने ने पलटा खाया और अदालतों और राजकार्य की भाषा फारसी हो गई । इस देश के एक बड़े समुदाय ने नाना कारणों से मुसलमानी धर्म को वरण किया और फलतः एक बहुत बड़े सम्प्रदाय की धर्मभाषा अरबी हो गई । यह अवस्था अधिक से अधिक चार पाँच-सौ वर्ष तक रही है । परन्तु आप भूल न जायँ कि इस समय की भारतवर्ष की श्रेष्ठ चिन्ता का स्रोत संस्कृत के ही रास्ते व । रहा था । नाना शास्त्र-ग्रन्थों की अतुलनीय टीकाएँ, धर्मशास्त्रीय व्यस्था के निबन्ध-ग्रन्थ, दर्शन और अध्यात्म विषयक अनुवाद और टीका-ग्रंथ, और सब से अधिक नव्य-न्याय और न्यायानुप्राणित-व्याकरण-शास्त्र इसी काल में लिखे जाते रहे । इस युग में यद्यपि संस्कृत ग्रन्थों में से मौलिक चिन्ता बराबर घटती जा रही थी फिर भी वह एकदम लुप्त नहीं हो गई थी । कुछ शताब्दियों तक भारतवर्ष एक विचित्र अवस्था में से गुजरा है । उसके न्याय, राजनीति और व्यवहार की भाषा फारसी रही है, हृदय की भाषा तत्तत प्रदेशों की प्रान्तीय भाषाएँ रही हैं और मस्तिष्क की भाषा संस्कृत रही है । हृदय की भाषा बराबर किसी न किसी रूप में देशी भाषाएँ रही हैं । यह और बात है कि दूर पड़ जाने से

पिछले हजारों वर्षों की देशी भाषा का साहित्य आज हम न पा सकें पर वह वर्तमान जरूर रहा है और उसका सम्मान भी हुआ है। मैं आज इस बात की चर्चा नहीं करूंगा। मैंने अन्य सप्रमाण दिखाया है कि इस देश में देशी भाषाओं में सदा काव्य लिखे जाते रहे हों सिर्फ यही बात नहीं है बल्कि उनका भरपूर सम्मान भी बराबर होता रहा है।

एक बार मेरे इस कथन को संक्षेप में आप अपने सामने रखकर देखें तो हमारी वर्तमान भाषा-समस्या काफी स्पष्ट हो जायगी। मैंने अब तक जो आपको प्राचीन-काल के खँडहरों में भटकाया वह इसी उद्देश्य से। संक्षेप मे बात इस प्रकार है कि—

(१) भारतवर्ष के दर्शन-विज्ञान आदि की भाषा सदा संस्कृत रही है।

(२) उसके धर्म प्रचार की भाषा अधिकांश में संस्कृत रही है, यद्यपि बीच-बीच में साहित्य के रूप में और सदैव बोल-चाल के रूप में देशी भाषाएँ भी इस प्रयोजन के लिये काम में लाई जाती रही हैं।

(३) आज से चार पांच-सौ वर्ष पहले तक व्यवहार, न्याय और राजनीति की भाषा भी संस्कृत ही रही है। पिछले चार पांच-सौ वर्षों से विदेशी भाषा ने इस क्षेत्र को दखल किया है।

(४) काव्य के लिये सदा से ही कथ्य देशी भाषाएँ काम में लाई गई हैं और संस्कृत भी सदा इस कार्य के उपयुक्त मानी गई है।

अब अगर आप ध्यानपूर्वक देखें तो हमारे हजारों वर्ष के इतिहास ने हमारी भाषा-समस्या को इस प्रकार सुलझाया है कि हमारे उच्चतर विचार, तर्क, दर्शन, विज्ञान, राजनीति, व्यवहार और हमारे न्याय की भाषा का सदा एक सामान्य स्टैण्डर्ड रहा है और हमारे इतिहास के एक अत्यन्त सीमित काल में हमारी भाषा के विशाल साहित्य के एक अत्यन्त नगण्य अंश पर विदेशी भाषा का आधिपत्य रहा है। अर्थात् हमारे कम-से-कम छह-सात हजार वर्ष के विशाल इतिहास में अधिक-से-अधिक पांच सौ वर्ष ऐसे रहे हैं जिनमें अदालतों की भाषा संस्कृत न होकर एक विदेशी भाषा रही है। दुर्भाग्यवश इस सीमित काल और सीमित अंश में व्यवहृत भाषा का दावा आज हमारी भाषा-समस्या का सर्वाधिक जबर्दस्त प्रश्न साबित हो रहा है। पर यह एक सामयिक बात है। आज यह जितनी बड़ी बाधा के रूप में भी क्यों न दीख रही हो, इतिहास की विशाल पट-भूमिका पर इसे रखकर देखिए तो इसमें कुछ तत्त्व नहीं रह जायगा। यह बात उतनी महत्त्वपूर्ण नहीं है कि जितनी आपाततः दीख रही है। इस विशाल देश की भाषा-समस्या का हल आज से सहस्रों वर्ष पूर्व से लेकर अबतक जिस भाषा के जरिये हुआ है, उसके सामने कोई भी भाषा न्यायपूर्वक अपना दावा लेकर उपस्थित नहीं रह सकती—फिर वह स्वदेशी हो या विदेशी, इस धर्म के माननेवालों की हो या उस धर्म के। इतिहास साक्षी है कि संस्कृत इस देश की अद्वितीय महिमाशालिनी भाषा है—अविजित, अनाहत और दुर्द्धर्ष।

आज से डेढ़ दो सौ वर्ष पहले तक यही अवस्था रही है। इसके बाद नवीन युग शुरू होता है। जमाने के अनिवार्य तरंगाघात ने हमें एक दूसरे किनारे पर लाकर पटक दिया है। दुनिया बदल गई तथा और भी तेजी से बदलती जा रही है। अंग्रेजी-साम्राज्य ने हमारी सारी परम्परा को तोड़ दिया है। इन डेढ़-सौ वर्षों में हम इतने बदल गए हैं—सारी दुनिया ही इतनी बदल गई है कि पुराने जमाने का कोई पूर्वज हमें शायद ही पहचान सकेगा। हमारी शिक्षा-दीक्षा से लेकर विचार-वितर्क की भाषा भी विदेशी हो गई है। हमारे चुने हुए मनीषी अंग्रेजी भाषा में शिक्षा पाये हुए हैं, उसी में बोलते हैं और उसी में लिखते रहे हैं। अंग्रेजी भाषा ने संस्कृत का सर्वाधिकार छीन लिया है। आज भारतीय विद्याओं की जैसी विवेचना और विचार अंग्रेजी भाषा में है उसकी आधी चर्चा का भी दावा कोई भारतीय भाषा नहीं कर सकती। यह हमारी सबसे बड़ी पराजय है! राजनीतिक सत्ता के छिन जाने से हम उतने नतमस्तक नहीं हैं जितने कि अपने विचार की, तर्क की, दर्शन की, अध्यात्म की और सर्वस्व की भाषा के छिन जाने से। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में हम अपनी ही विद्या को अपनी बोली में न कह सकने के उपहासास्पद अपराधी हैं। यह लज्जा हमारी जातीय लज्जा है। देश का स्वाभिमानी हृदय इस असह्य अवस्था को अधिक बर्दाश्त नहीं कर सकता।

जब हममें राष्ट्रीय चेतना का संचार हुआ तो हमने देखा कि

हम लुट चुके हैं। हमारे नायकों ने कहा—संभल जाओ। पर क्या संभलें, कैसे संभलें ? क्या संस्कृत को अपनाकर ? यह असम्भव है।

क्यों ? जो कल तक सम्भव था वह आज असम्भव क्यों है ? इसलिये कि अब दुनिया बदल गई है। अब शास्त्र या कोई अन्य ग्रन्थ मुक्ति पाने या परलोक बनाने के लिये नहीं लिखे जाते तथा अब विद्या और ज्ञान एक विशेष श्रेणी की सम्पत्ति नहीं माने जाते। आज मनुष्य ने हर क्षेत्र में अपनी प्रधानता बना ली है। जो कुछ है वह मनुष्य के लिये, चाहे वह धर्म हो, दर्शन हो, राजनीति हो, कुछ भी हो; मनुष्य उसके लिये नहीं है। वह जमाना ही मर गया जब केवल भाषा पर अधिकार करने के लिये वर्षों परिश्रम किया जाता था और जब गर्वपूर्वक कहा जाता था कि 'द्वादशभिर्वर्षैर्व्याकरणं श्रूयते' अर्थात् 'बारह वर्ष में व्याकरण-शास्त्र के सुनने की योग्यता होती है।' अब भाषा गौण है, विचार मुख्य ; और विचार भी ऐसे नहीं जो विचार के लिये ही लिखे गए हों ; विचार भी ऐसे जो मनुष्य के लिये हों और जिनसे निश्चित रूप से मनुष्यता उपकृत होती हो। इसीलिये सबसे सीधा रास्ता यह है कि विचारों को अधिकाधिक सहज भाषा में पहुँचाया जाय। यह सहज भाषा तत्तत् प्रदेशों की अपनी-अपनी बोली ही हो सकती है। इस युग में वही हुआ है। हमने अंग्रेजी की प्रतिद्वन्द्विता में अपनी-अपनी बोलियों को खड़ा किया है। यह उचित है, यही योग्य है, परन्तु

यही सब कुछ नहीं है। हमें सारे देश में एक विचार-स्रोत को वहा देना है। सारे देश में एक ही उमंग, एक ही आवेग, एक ही सहानुभूतिमय हृदय उत्पन्न करना है। यह कैसे हो? इतिहास में पहली बार हमने इस समस्या को इतने निविड़-भाव से अनुभव किया है।

आज से डेढ़-दो सौ वर्ष पहले तक संस्कृत भाषा ने हमारे भीतर विचारगत एकता बना रखने का प्रयत्न किया था। बंगाल के रघुनन्दन भट्ट अपनी व्यवस्थाएँ इसी भाषा के बल पर कन्या-कुमारी से काश्मीर तक पहुँचा सके थे, काशी के नागेश भट्ट को व्याकरण-शास्त्रीयविचार सारे देश में फैला देने में कोई बाधा नहीं पड़ी थी, महाराष्ट्र के गणेश दैवज्ञ को अपना ज्योतिषिकशोध इस विशाल देश के इस कोने से उस कोने तक फैला देने में कोई कठिनाई नहीं पड़ी। परन्तु आज अवस्था एकदम बदल गई है। हमारे पास अपना कोई भी स्वदेशी माध्यम नहीं रह गया है जिसके द्वारा हमारे सर्वोत्तम व्यक्ति अपनी ज्ञान-सम्पत्ति अनायास ह .रे देश में फैला सकें। स्वामी विवेकानन्द और स्वामी रामतीर्थ को अपने वेदान्त सम्बन्धी सन्देश विदेशी भाषा में लिखने पड़े, लोकमान्य तिलक को अपने वेद और ज्योतिष-सम्बन्धी शोध तथा डाक्टर भण्डारकर को हिन्दू देव-देवियों के विषय में किया हुआ महत्त्वपूर्ण अध्ययन विदेशी माध्यम से देशवासियों तक पहुँचाना पड़ा। ऐसा तो इस देश में हुआ है कि धर्मोपदेश के लिये भिन्न-भिन्न

प्रान्तों की भाषाओं से काम लिया गया हो। थोड़े समय के लिये ऐसा भी हुआ है कि राजकीय व्यवहार की भाषा कुछ और हो गई हो, परन्तु हमारे उच्चतर अध्ययन, दार्शनिक विचार और वैज्ञानिक गवेषणा की भाषा भी विदेशी हो गई हो, ऐसा कभी नहीं हुआ है। इसालिये राजनीतिगत उथल-पुथल के होते हुए भी, सुदूर प्रदेशों में फैला हुआ यह महादेश होते हुए भी इस में एक अद्भुत एकता पाई जाती रही है। आज इसपर भी विदेशी भाषा का आधिपत्य है। इसीलिये कहता हूं कि भाषा-समस्या को इतने निविड़-भाव से, ऐसे गाढ़भाव से हमने अपने समूचे इतिहास में कभी भी अनुभव नहीं किया।

परन्तु हम अब संस्कृत को फिर से नहीं पा सकते। अगर बीच में अंग्रेजी ने आकर हमारी परम्परा को बुरी तरह तोड़ न भी दिया होता तो भी आज हम संस्कृत को छोड़ने को बाध्य होते, क्योंकि वह जनसाधारण की भाषा नहीं हो सकती। जिन दिनों एक विशेष श्रेणी के लोग ही ज्ञान चर्चा का भार स्वीकार करते थे, उन दिना भी यह कठिन और दुःसह थी। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदल गए हैं, हमारी दुनिया पलट गई है, हमारे पुराने विश्वास हिल गए हैं, हमारी ऐहिकता बढ़ गई है और हमारे वे दिन अब हमेशा के लिए चले गए। भव-भूति के राम की भाँति हम भी अब यह कहने को लाचार हैं कि 'ते हि नो दिवसा गताः'—अब वे हमारे दिन नहीं रहे।

अफसोस करना बेकार है। हम जहाँ आपड़े हैं, वहीं से हमें

यात्रा शुरू करनी है। कालधर्म हमें पीछे नहीं लौटने देगा। हमें अपने को और अपनी दुनिया को समझने में अपने हजारों वर्षों के इतिहास का अनुभव प्राप्त है। हम इस दुनिया में नये नहीं हैं, नौसिखुए नहीं हैं। अपने संस्कारों और अनुभवों के लिए हमें गर्व है। ये हमें अपने को और अपनी दुनिया को समझने में सहायता पहुँचाएँगे। हमें याद रखना चाहिए कि अनुभव और संस्कार तभी वरदान होते हैं, जब वे हमें आगे ठेल सकें, कर्मशील बना सकें। निठल्ले का अनुभव उसे खा जाता है और संस्कार उसे और भी अपाहिज बना देता है।

हमारा पुराना अनुभव बताता है कि हम आसेतु-हिमाचल एक भाषा से एक संस्कार, एक विचार, एक मनोवृत्ति तैयार कर सकते हैं। और वह एक भाषा संस्कृत है। हमारी नई परिस्थिति बता रही है कि शास्त्रों की चर्चा से मुक्ति या परलोक बनानेवाला आदर्श अब नहीं चल सकता। "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः"—अर्थात 'एक भी शब्द भलीभाँति जान लिया जाय तो स्वर्ग-लोक में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त हो जाता है' का आदर्श इस काल में नहीं टिक सकता, जब कि प्रत्येक कार्य में हड़बड़ी और जल्दी-से-जल्दी की भावना काम कर रही है। हमें एक ऐसी भाषा चुन लेनी है जो हमारी हजारों वर्ष की परम्पराओं से कम-से-कम विच्छिन्न हो और हमारी नूतन परिस्थिति का सामना अधिक-से-अधिक मुस्तैदी से कर सकती हो; संस्कृत न होकर भी संस्कृत-सी हो और साथ ही जो प्रत्येक नये विचार को, प्रत्येक नई भावना को

'खल्लासरं रहमथो दुफालिः कुत्थं तदुत्थोत्थ न्द्वीरनामा।'

और

'स्यादिक्वालः इशराफ योगः'—इत्यादि

रमल ('रमल' नामक ज्योतिष-विद्या) के ग्रन्थों में बीसों अरबी और फारसी के शब्द व्यवहृत हुए हैं। एक श्लोक में 'तारीख' शब्द का ऐसा व्यवहार किया गया है, मानो वह पाणिनि का ही शब्द हो—'तारिखे च त्रितये प्रयोदशे' ! सुलतान शब्द का 'सुरत्राण' रूप संस्कृत के काव्य ग्रन्थों में ही नहीं, मुसलमान बादशाहों के सिक्कों पर भी पाया जाता है। पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में एक जगह मस्जिद को 'मसीति' बनाकर ही प्रयोग ही नहीं किया गया है, अनुप्रास के साँचे में बैठाकर "अशीतिर्मसीति" कहकर उसमें सुकुमारता भी लाई गई है। नहीं, मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि आप विदेशी शब्दों को निकालना शुरू करें। मुझे गर्व है कि आपने आज जिस भाषा को अपने लिये सामान्य-भाषा के रूप में वरण किया है, उसने उर्दू के रूप में इतने विदेशी शब्दों को हजम किया है कि संसार की समस्त विदेशी भाषाओं को पाचन-शक्ति की प्रतिद्वन्दिता में पीछे छोड़ गई है। प्रचलित शब्दों का त्याग करना मूर्खता है; पर मैं साथ ही जोर देकर कहता हूं कि किसी विदेशी भाषा के शब्दों के आ जाने भर से वह विदेशी भाषा संस्कृत के साथ बराबरी का दावा नहीं कर सकती। वह हमारे नवीन भावों के प्रकाशन के लिये संस्कृत के शब्दों को गढ़ने से हमें नहीं रोक सकती।

प्रचलित शब्दों को विदेशी कहकर त्याग देना मूर्खता है; पर किसी भाषा के शब्दों का प्रचलन देखकर अपनी हजारों वर्ष की परम्परा की उपेक्षा करना आत्म-घात है। संस्कृत ने भिन्न-भिन्न भाषाओं से हजारों शब्द लिए हैं; पर उन्हें संस्कृत बनाकर। हम जब भी विदेशी शब्दों को लें तो उन्हें भारतीय बनाकर—इस देश के उच्चारण और वाक्य-रचना-परम्परा के अनुकूल बनाकर।

मगर यह तो मैं अवान्तर बात कह गया। मैं मूल प्रश्न पर फिर आ रहा हूँ। इस युग का मुख्य उद्देश्य मनुष्य है। इस युग का सब से बड़ा अभिशाप यह है कि विज्ञान की सहायता से जहाँ बाह्य भौगोलिक बन्धन तड़ातड़ टूट गए हैं, वहाँ मानसिक संकीर्णता दूर नहीं हुई है। हम एक दूसरे को पहचानते नहीं। तीन दिन में सारे संसार की यात्रा करके लौटे हुए यात्रा-विलासी लोगों और नाना प्रकार के स्वार्थ-परायणों की पुस्तकों ने संसार में घोर गलत-फहमी फैला रखी है। इस देश में ही एक प्रदेशवाले दूसरे प्रदेश के लोगों को नहीं समझ रहे, एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय के लोगों को नहीं पहचान रहे। इसीलिये मारामारी-काटाकाटी चल रही है। आपने जब एक सामान्य भाषा को बनाने की ठानी है, तो आपसे आशा होती है कि आप कहीं नहीं रुकेंगे। यह भी बाह्य (बाहरी बात) है। और भी आगे चलिए। एक साहित्य बनाइए। गलत-फहमी दूर कीजिए। ऐसा कीजिए कि एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय

को समझ सके। एक धर्मवाले दूसरे धर्मवाले की कदर कर सकें। एक प्रदेशवाले दूसरे प्रदेशवाले के अन्तर में प्रवेश कर सकें। ऐसा कीजिए कि इस सामान्य माध्यम के द्वारा आप सारे देश में एक आशा, एक उमंग और एक उत्साह भर सकें। और फिर ऐसा कीजिए कि हम इस भाषा के जरिये इस देश की और अन्य देशों की, इस काल की और अन्य कालों की समूची ज्ञान-सम्पत्ति आपस में विनिमय कर सकें। आपका व्रत सफल हो, शुभ हो।

(बम्बई हिन्दी विद्यापीठ के उपाधि-वितरण के अवसर पर दिए हुए भाषण से)

कविता का भविष्य

काशी के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अवसर पर कवि-सम्मेलन हुआ था। उसकी बैठक एकाधिक दिन तक चलती रही। एक बैठक में उपस्थित होने का अवसर मुझे भी मिला था। मैं श्रोताओं में बैठा था और उनकी मुखाकृति देख रहा था। कवियों में ऐसे सज्जन बहुत ही कम मंच पर आए जिनका नाम प्रतिमास छापे के अक्षरों में उठा करता है। अधिकांश कवि श्रोताओं के लिये मजाक के पात्र थे और अधिकांश श्रोता इसीलिये सभा में आए हुए जान पड़ते थे कि जरा उनका दिल बदल जाएगा और जरा मजा आ जाएगा। जो साहित्यिक श्रोता वहाँ उपस्थित थे वे निराश थे और एकाध तो अन्य साहित्यिकों को देखकर इस प्रकार शर्माकर कैफियत देने लगते थे, मानो किसी लज्जा-जनक जगह पर अचानक पकड़े गए हों! संक्षेप में कवि-सम्मेलन उत्साह, मजाक, मौज, निराशा और लज्जा का मिलाजुला रूप था। मैं नौ वर्ष से हिन्दी-क्षेत्र से बाहर रहता हूँ और अपने साहित्य की स्तुति गाने का व्यवसाय करता हूँ। मैं इस व्यवसाय के कारण भूल गया था कि हिन्दी-कविता का एक बहुत बड़ा जीवित रूप वर्तमान है, जो आधुनिक युग में मध्ययुग का साहित्यिक भग्नावशेष कहा जा सकता है। मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरा भ्रम दूर हो गया। मैं

निराश बिलकुल नहीं हुआ। मुझे वास्तविक हिन्दी भाषा की शक्ति और प्रकृति का प्रत्यक्ष साक्षात्कार हुआ। इस गद्य-युग में भी इस भाषा के पेट में कितने कवि पड़े हुए हैं! एक आशुकवि भी आ जुटे थे। भले आदमी ने ललकार कर कहा कि जिस विषय पर कहो कविता बना देता हूं। सदस्यों ने विषय भी दिए। पुराने युग में एक ऐसा ही आशु 'शास्त्रार्थ-कवि' काश्मीर में पहुँचा था। वाद के लिये बैठे हुए दरबारी पण्डित गद्य में जवाब दे रहे थे और वह पण्डित पद्य में। गद्यवाले को ही लड़-खड़ाना पड़ा। आशुकवि ने कहा—मेरे अनवद्य पद्यों के सामने आप गद्य में भी जो लड़खड़ा रहे हैं, सो जान पड़ता है आपने तारादेवी की आराधना नहीं की—

अनवद्ये यदि पद्ये गद्ये शैथिल्यमावहसि—
तत्किं त्रिभुवनसारा तारा नाराधिता भवता ?

विडंवना देखिए कि काशीवाले कवि को देखकर श्रोता मन ही मन—अनजान में गुनगुना रहे थे—अनवद्य गद्य के होते हुए भी आप जो पद्य में जरा भी शैथिल्य नहीं आने देते तो क्या आपने गद्याकारा वाक्यधारा की आराधना नहीं की ?

अनवद्ये यदि पद्ये गद्येऽशैथिल्यमावहसि—
तत्कि गद्याकारा धारा नाराधिता भवता ?

जमाना ऐसा आ गया है कि कल तक जो बात सोलह आने निर्विवाद समझी जाती थी वह भी आज सन्देह का विषय बन गई है। हम मानें या न मानें, कालप्रवाह हमें जबर्दस्ती एक

विशेष दिशा की ओर ठेले लिये जा रहा है। मुँह फेर या आँख मूँदकर बैठ रहने से वह धारा रुकेगी नहीं।

आज भी शायद निर्विवाद बात यह है कि कविता का क्षेत्र संकुचित हो गया है, परन्तु कवि का महत्त्व बढ़ गया है। इस शताब्दी के आरंभ तक लोकप्रिय साहित्य के क्षेत्र में कवि का प्रतिद्वन्द्वी कोई नहीं था। भारतवर्ष के हजारों वर्ष के इतिहास में कविता जैसा लोकप्रिय साहित्य कुछ था ही नहीं। वैद्यक और ज्योतिष के आचार्य भी इसके शरणापन्न होते थे, बीजगणित और अंकगणित के ग्रंथ भी कविता की ही बोली में और उसी के फैशन में लिखे जाते थे। भगवान् के भजन से लेकर सूम की छीछालेदर तक सभी विषय कविता के प्रतिपाद्य थे। अलख जगानेवालों से लेकर कोकशास्त्री तक कविता के माध्यम का व्यवहार करते थे। नाटक में कविता का बोलबाला होता था, संगीत में कविता मुखरित होती थी, विवाह और श्राद्ध में कविता पढ़ी जाती थी और जीवन का ऐसा कोई भी अंग नहीं था जहाँ उसका कुछ-न-कुछ उपयोग और उपभोग न होता हो। और जैसा कि मम्मटाचार्य ने कहा है, काव्य यश के लिये, धन के लिये, व्यवहार-ज्ञान के लिये, कल्याण-प्राप्ति के लिये, मोक्ष के लिये और कान्तासम्मित उपदेश के लिये अर्थात् जीवन की प्रायः समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये रचे जाते थे। फिर भी अद्भुत विरोधाभास यह है कि यद्यपि सभी तरह के लोग इस माध्यम का आश्रय ग्रहण करते थे तो भी सभी लोग

कवि नहीं माने जाते थे। राजशेखर ने काव्य की उत्पत्ति के दो कारण बताए हैं—समाधि अर्थात् मानसिक एकाग्रता और अभ्यास या परिशीलन, इन दोनों के योग का नाम शक्ति है। परन्तु शक्ति ही एकमात्र काव्य का कारण नहीं है। लोक-निरीक्षण, काव्य-निरीक्षण, शास्त्राभ्यास और काव्य-शिक्षा भी नितान्त आवश्यक हैं। दण्डी यहाँ तक कहते हैं कि प्रतिभा न भी हो तो भी आदमी शास्त्राभ्यास के द्वारा कवि हो सकता है। स्पष्ट ही भारतीय समीक्षकों ने काव्य-शास्त्र के अभ्यास को बहुत महत्त्व-पूर्ण स्थान दिया है। यह विचार कि बिना शास्त्र पढ़े लोग भी प्रतिभा के बल पर कवि हो सकते हैं, संस्कृत के आलंकारिकों को एकदम मान्य नहीं था।

किन्तु अब मशीनों के उत्पात ने दुनिया बदल दी है। कवि-सम्मेलन के अखाड़ेबाज कवि ऐसी बहुत-सी बातें अब भी कविता के माध्यम से बोलते जा रहे हैं जिनमें से बहुत-सी किसान सभा या हिन्दूसभा के मंच पर गद्य में बोली जा सकती थीं। कुछ कांग्रेसवादी अखबारों की सम्पादकीय टिप्पणियों में अधिक सफलता-पूर्वक कही जा सकती थीं, कुछ मसखरे अखबारों को अच्छी सामग्री दे सकती थीं, कुछ कहानी के रूप में लिखने पर ज्यादा पुर-असर हो सकती थीं और कुछ का उपयोग निश्चय-पूर्वक फेरीवालों की बिक्री बढ़ाने में किया जा सकता था। छापे की कल ने कविता के व्यापक क्षेत्र को कई हिस्सों में बाँट दिया है। कहानियों ने बहुत हिस्सा पाया है। उपन्यासों ने बहुत कुछ

हथिया लिया है, निबन्धों ने भी कम नहीं पाया है। समाचार-पत्रों ने—और विशेष रूप से मासिक पत्रों ने–कवि-सम्मेलनों की कमर तोड़ दी है। कविता कान का विषय न होकर आँख का विषय हो गई है। सुनना अब उतना महत्त्व नहीं रखता, पढ़ना अधिक महत्त्व-पूर्ण हो गया है। और इंद्रिय-परिवर्तन के साथ ही साथ कविता के आस्वाद्य वस्तु में भी परिवर्तन हुआ है। कविता अब भावावेग का विषय न होकर बुद्धि का विषय हो गई है। कवि के मुख से कविता सुनते समय हम उसके पठनभंगी पर ज्यादा ध्यान देते हैं, उसके काकु को—या, जैसा कि राज-शेखर ने इस शब्द की व्याख्या की है, 'अभिप्रायवान पाठधर्म' को—अधिक महत्त्व देते हैं। पर छापे के अक्षर में छपी हुई कविता को पढ़ते समय न हमारे सामने कवि का कंठ होता है और न काकु या अभिप्रायवान पाठधर्म। उस समय केवल कवि के विचार हमारे सामने होते हैं। इसप्रकार हम चाहें या न चाहें, कविता का अर्थ हमारे लिये निश्चित रूप से विचार्य हो उठता है। हम अनजान में बुद्धिवृत्तिक हो जाते हैं। छापे की कल ने हमें भावावेश पर से धकिया कर बुद्धि-प्रवाह में फेंक दिया है।

इस कथन का अर्थ बहुत बड़ा है। हमारे निकट अब कवि, यश, अर्थ या व्यवहार से कमाने की मशीन नहीं है; 'कान्ता-सम्मित' उपदेश की भी हम उससे उम्मीद नहीं रखते, कहानियों ने जबर्दस्ती कविता से यह विभाग छीन लिया है। हम उससे कुछ अधिक की उम्मीद रखने लगे हैं। वह 'उम्मीद क्या है?

जीवन की व्याख्या ? बताया गया है कि यही कवि का परमधर्म है। परन्तु फिर उपन्यास-लेखक और नाटककार और चिन्ताशील निबन्ध-लेखक—और सबके ऊपर ऐतिहासिक क्या करते हैं ? जीवन की व्याख्या क्या कवि की मौरूसी सम्पत्ति है ? इतिहास यदि मानव-जीवन का प्रवाह नहीं तो और क्या है ? ईंट-पत्थरों के इतिहास में अब भी कोई विश्वास करता है, यह बात कुछ अद्भुत सुनाई देती है और मोक्ष की चिन्ता तो आज के युग में शायद ही किसी चिन्ताशील पाठक को हो, फिर कवि से हम क्या आशा करने लगे हैं ?

सवाल का जवाब खोजने के पहले हमें यह साफ समझ लेना चाहिए कि कविता हम आज-कल समझते किसे हैं। मासिक पत्रिकाओं के संपादक खाली पड़े स्थान को भरने के लिए प्रति-मास जो असंख्य कवितायें छापते जा रहे हैं—(छापे का यंत्र यहाँ भी कविता के क्षेत्र में दखल दे रहा है) क्या हम उन सबको कविता मानते हैं ? निश्चय ही नहीं। किसानों और मजदूरों के दुःख से सभा-भवन को गुंजारित करनेवाली रच-नाओं में सबको हम कविता मानते हैं ?—संदिग्ध विषय है। प्रेयसी के अंचल में मुँह छिपाकर सिसकी भरनेवाले कवियों की रचना हमें पसन्द है ?—थोड़ी सी। जो कविताएँ हमारे दिल को नरम कर दें, हमें सोचने को मजबूर करें, समझने की आँख दें, उन्हें हम कविता मानते हैं—जरूर। वस्तुतः अनादिकाल से अब तक कवि ने जो सबसे बड़ा कार्य किया है, जिसे कोई

शास्त्रकार नहीं कर सका, जिसे कोई तत्त्ववेत्ता नहीं सुलझा सका, वह कार्य हृदय को मुलायम बनाना है, संवेदनशील बनाना है दूसरे के सुख-दुःख के अनुभव की योग्यता ला देना है। कवि ने यह कार्य नाना भाव से किया है। मध्ययुग के कवि, जो अपनी मनोवृत्ति के कारण हर राहचलते आधुनिक समालोचक के वाक्यवाणों के निशाना बने हैं, केवल इस एक कारण से कवि की गद्दी के अधिकारी बने रह सकते हैं कि उन्होंने अपने श्रोताओं को संवेदना दी है, उनका हृदय मुलायम बनाया है। उन कविताओं के अभाव में आदर्शभ्रष्ट मानवता कितनी बर्बर हो उठती, यह केवल अनुमान का विषय है। हम कवि से यही आशा रखते हैं कि वह हमारे दिल को संवेदनशील बना दे। हम उससे यह आशा हरगिज नहीं रखते कि वह हमें वेदान्तवाद के तत्त्व रटा दे या राणा प्रताप के घोड़े के खुरों से उड़ी हुई धूलिराशि का खाका खींच दे। इन बातों को हम अन्यत्र पा सकते हैं।

और भी स्पष्ट रूप से इस प्रकार कह सकते हैं। पिछले खेवे के आलंकारिक आचार्यों ने काव्य की जिस ध्वनि-प्राणता का इतना प्रचार किया था वह चाहे जितना बड़ा भी सिद्धान्त क्यों न रहा हो, आज के काव्य का उपयुक्त आदर्श नहीं हो सकता। इसलिये नहीं कि आज के युग में वह खोखला हो गया है, या उसमें कोई शाश्वत सत्य नहीं रहा, बल्कि इसलिये कि कविता का विषय ही बदल गया है। पहले काव्य सुनाने के लिये और

झूम-झूम कर पढ़ने के लिये लिखे जाते थे, इसीलिये कवि को ऐसे वचन-विन्यास की आयोजना करनी पड़ती थी जो सुननेवालों को शीघ्र ही और आसानी से व्यंग्य-अर्थ की ओर प्रवृत्त करे। उसे शब्द और अर्थ में एक प्रकार की वक्रता का आश्रय लेना पड़ता था जिससे पाठक आसानी से वक्तव्य की ओर उत्सुक हो सके। यह पाठक को एक प्रकार की घूस दी जाती थी। शब्दों और अर्थों के अलंकार इसीलिये काव्य में प्रधान स्थान अधिकृत करते थे। इसीलिये इनको जाने बिना न तो कोई कवि ही हो सकता था और न भावुक ही। इसीलिये संस्कृत के आलंकारिक शास्त्राभ्यास को इतना महत्त्व देते थे। आज शब्दालंकार और अर्थालंकार उपदेशकों के काम की चीज हो गए हैं। इनके बल पर आज कवि-सम्मेलन में नहीं, व्यवस्थापिका-सभा में प्रधानता प्राप्त की जा सकती है। ध्वनि-संप्रदाय आज भी अपने समस्त अंग-प्रत्यंग के साथ उपयोगी है, पर उसका अधिकांश कविता से बाहर चला गया है। वस्तु से वस्तु या अलंकार, और अलंकार से वस्तु या अलंकार, आज कविता के विषय नहीं रहे। ये सुननेवाले को ज्यादा आकृष्ट करते हैं। परन्तु ध्वनि का सर्वोत्तम अंग 'रस' अब भी काव्य का विषय है। इस रस की अनुभूति को तीव्र करने के लिए ही जो अलंकार प्रयुक्त होंगे, वे काव्य में चल सकेंगे। वे नहीं जो अन्य अलंकार को या अन्य वस्तु को ध्वनित करें। यह स्मरण रखने की बात है कि 'रस' सिद्धान्त का मूल उद्भवस्थान नाटक है, काव्य नहीं।

काव्य में इसकी आमदनी वाद में हुई है। जिन अनुभाव, विभाव, संचारी आदि भावों के संग से इसकी निष्पत्ति होती है वे नाटक में ही होते हैं। इसके सभी वड़े वड़े व्याख्याकार लोल्लट, शंकुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्त नाट्यशास्त्र के व्याख्याता थे। काव्य के आलोचकों ने रस की अपेक्षा अलंकारों की ही विवेचना अधिक की थी। कारण स्पष्ट है। काव्य सुनाने के लिए लिखे जाते थे, वे कानों के विषय होते थे, इसलिए उनमें अलंकारों की ही प्रधानता होती थी। सभा में काव्य का पाठ वहुत ही महत्त्वपूर्ण माना जाता था। राजशेखर ने लिखा है कि काव्य करते तो वैसे वहुत लोग हैं, पर पढ़ने का ढंग वही जानता है जिस पर सरस्वती की कृपा होती है। यह अनेक जन्म के प्रयास से आता है। परन्तु नाटक दृष्टि और श्रवण दोनों का विषय है, उसमें आदमी केवल सुनता ही नहीं रहता, प्रत्यक्ष अनुभव जैसा करता रहता है। अनुभव जहाँ है वहीं रस का प्रसंग हो सकता है। महाकाव्यों में ऐसा संभव है, वहाँ पाठक मन ही मन नायक-नायिकाओं को देखता रहता है। वह विभाव-अनुभाव को प्रत्यक्ष-सा अनुभव करता रहता है। यह विचार-पूर्वक देखने की वात है कि काव्य में अलंकारों की प्रधानता को विवृत करनेवाले दण्डी और भामह जैसे प्राचीन आचार्य महाकाव्यों के प्रसंग में ही रस का उल्लेख करते हैं। इसीलिए 'रस' के सम्बन्ध में विचार करते समय हमें ध्यान रखना चाहिए कि हमारे सामने वास्तविक या कल्पित आलंबन

विभाव का होना निहायत जरूरी है नहीं तो रस प्रसंग ही नहीं उठता। अत्यंत बुद्धिमानी के साथ रीतिकाव्य के कवि ने इसी-लिये कविता में नायिकाभेद का आश्रय लिया था। अगर उसने नायक-नायिकाओं का आश्रय न लिया होता तो उसका 'रसा-त्मक' वाक्य निश्चय आकाश-पुष्प हो जाता। आधुनिक कविता इस विशेष बात में भी अलग हो गई है। हम सदा आलंबन, उद्दीपन आदि विभावों और संचारी भावों का अनुभव नहीं करते होते। हम आधुनिक कविता में से बहुतों को केवल बुद्धि-द्वारा समझने का प्रयत्न करते रहते हैं। इसीलिए केवल 'रस' का आदर्श भी आज के कवि और भावुक को संतुष्ट नहीं कर सकता। केवल 'रस' के आदर्श को स्वीकार करने से हम ऐसी बहुतेरी कविताओं को त्यागने को बाध्य होंगे जो हमारे हृदय को नर्म बना रही हैं, हमें सोचने को मजबूर कर रही हैं और हमें समझने की आँखें दे रही हैं—अर्थात् मन ही मन जिन्हें हम कविता समझ रहे हैं। हमारे कवि-सम्मेलन के कवि इस बात का खयाल रक्खें तो अच्छा हो।

तो क्या कविता केवल देखने और समझने की चीज रह गई है? पढ़ने और अनुभव करने की नहीं? क्या पूर्ववर्ती आलोचना का यही अर्थ है? निश्चय ही नहीं। पूर्ववर्ती आलो-चना में केवल इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि—(१) छापे की मशीन ने कविता को मन ही मन पढ़ने की चीज बना दी है, (२) उसमें की आलंकारिकता का आकर्षण

शिथिल कर दिया है और (३) सहृदय को श्रोता की अपेक्षा द्रष्टा अधिक बना दिया है। सहृदय की रुचि बदल गई है। वह कवि-सम्मेलनों के भूसीफोर कवियों को तमाशबीन की दृष्टि से देखता है, कवित्व के प्रति उसके हृदय में जो सम्मान है उसकी दृष्टि से नहीं। सम्मान वह छपी कविता को पढ़ते समय देता है। इसका अर्थ यह बिलकुल ही नहीं कि कविता अब पढ़ी नहीं जायगी या जो लोग कविता को .सुन्दर ढंग से पढ़ सकते हैं वे अब यह कार्य छोड़ दें। ऐसे शक्तिशाली लोगों को जरूर कविता पढ़कर श्रोताओं का मनोरंजन करना चाहिए। वस्तुतः ये ही लोग कवि-सम्मेलनो में 'हिरो' हो सकते हैं। परन्तु उन्हें साफ समझ लेना चाहिए कि उनका कार्य कविता करना नहीं है। वे कवि नहीं, कविता के आवृत्तिकारी हैं। हमारे कवि-सम्मेलनों की समस्या यही है कि पाठक और कवि में कोई भेद नहीं किया जाता। जो वस्तुतः कवि हैं वे अच्छे आवृत्तिकारी भी हों, यह सदा संभव नहीं हो सकता।.साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से साफ हो जाना चाहिए कि कविता और संगीत दोनों अलग चीजें हैं। कविता के आवृत्तिकारी को जो बात सबसे अधिक ध्यान में रखना आज के युग में निहायत आवश्यक है वह कविता को सुर देना नहीं है, बल्कि उसमें उपयुक्त 'काकु' का देना है ताकि काव्यार्थ पाठक को अधिक-से-अधिक बुद्धिग्राह्य हो सके। यहाँ भी छापे की मशीन ने काव्यास्वादन में दखल दिया है। अगर आवृत्तिकारी छापे की मशीन को परास्त

विभाव का होना निहायत जरूरी है नहीं तो रस प्रसंग ही नहीं उठता। अत्यंत बुद्धिमानी के साथ रीतिकाव्य के कवि ने इसीलिये कविता में नायिकाभेद का आश्रय लिया था। अगर उसने नायक-नायिकाओं का आश्.य न लिया होता तो उसका 'रसात्मक' वाक्य निश्चय आकाश-पुष्प हो जाता। आधुनिक कविता इस विशेष बात में भी अलग हो गई है। हम सदा आलंबन, उद्दोपन आदि विभावों और संचारी भावों का अनुभव नहीं करते होते। हम आधुनिक कविता में से बहुतों को केवल बुद्धि-द्वारा समझने का प्रयत्न करते रहते हैं। इसीलिए केवल 'रस' का आदर्श भी आज के कवि और भावुक को संतुष्ट नहीं कर सकता। केवल 'रस' के आदर्श को स्वीकार करने से हम ऐसी बहुतेरी कविताओं को त्यागने को बाध्य होंगे जो हमारे हृदय को नर्म बना रही हैं, हमें सोचने को मजबूर कर रही हैं और हमें समझने की आँखें दे रही हैं—अर्थात् मन ही मन जिन्हें हम कविता समझ रहे हैं। हमारे कवि-सम्मेलन के कवि इस बात का खयाल रक्खें तो अच्छा हो।

तो क्या कविता केवल देखने और समझने की चीज रह गई है? पढ़ने और अनुभव करने की नहीं? क्या पूर्ववर्ती आलोचना का यही अर्थ है? निश्चय ही नहीं। पूर्ववर्ती आलोचना में केवल इस बात को स्पष्ट करने की कोशिश की गई है कि—(१) छापे की मशीन ने कविता को मन ही मन पढ़ने की चीज बना दी है, (२) उसमें की आलंकारिकता का आकर्षण

शिथिल कर दिया है और (३) सहृदय को श्रोता की अपेक्षा द्रष्टा अधिक बना दिया है। सहृदय की रुचि बदल गई है। वह कवि-सम्मेलनों के भूसीफोर कवियों को तमाशबीन की दृष्टि से देखता है, कवित्व के प्रति उसके हृदय में जो सम्मान है उसकी दृष्टि से नहीं। सम्मान वह छपी कविता को पढ़ते समय देता है। इसका अर्थ यह बिलकुल ही नहीं कि कविता अब पढ़ी नहीं जायगी या जो लोग कविता को .सुन्दर ढंग से पढ़ सकते हैं वे अब यह कार्य छोड़ दें। ऐसे शक्तिशाली लोगों को जरूर कविता पढ़कर श्रोताओं का मनोरंजन करना चाहिए। वस्तुतः ये ही लोग कवि-सम्मेलनो में 'हिरो' हो सकते हैं। परन्तु उन्हें साफ समझ लेना चाहिए कि उनका कार्य कविता करना नहीं है। वे कवि नहीं, कविता के आवृत्तिकारी हैं। हमारे कवि-सम्मेलनों की समस्या यही है कि पाठक और कवि में कोई भेद नहीं किया जाता। जो वस्तुतः कवि हैं वे अच्छे आवृत्तिकारी भी हों, यह सदा संभव नहीं हो सकता।.साथ ही यह भी स्पष्ट रूप से साफ हो जाना चाहिए कि कविता और संगीत दोनों अलग चीजें हैं। कविता के आवृत्तिकारी को जो बात सबसे अधिक ध्यान में रखना आज के युग में निहायत आवश्यक है वह कविता को सुर देना नहीं है, बल्कि उसमें उपयुक्त 'काकु' का देना है ताकि काव्यार्थ पाठक को अधिक-से-अधिक बुद्धिग्राह्य हो सके। यहाँ भी छापे की मशीन ने काव्यास्वादन में दखल दिया है। अगर आवृत्तिकारी छापे की मशीन को परास्त

करने की क्षमता न रखता हो तो उसे प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

गान में जो स्थान सुर को प्राप्त है, काव्य में वही स्थान झंकार को प्राप्त है। पद्य के निश्चित बंधनों को बार बार दुहराने से पद और वाक्य में एक प्रकार की विशेष झंकार पैदा होती है, जो श्रोता के भावावेग को अधिक गतिशील बनाती है और शब्द और अर्थ से अतीत तत्त्व को सहज ही श्रोता-गम्य बना देती है। मामूली राजनैतिक वक्ता भी जब मंच पर भावाविष्ट होकर बोलने लगता है तब अपने गद्य में भी एक विशेष प्रकार का जोर देकर, एक विशेष प्रकार की यति देकर बोलता है। ऐसे स्थान पर वह काव्य के प्रधान हथियार का सहारा लेता है। सहृदय पाठक छपे हुए काव्य को पढ़ते समय मन-ही-मन इसी प्रकार का जोर देता रहता है और इसी प्रकार अपने आपके लिए भावावेश की अवस्था का निर्माण करता रहता है। छापे में विविध विरामचिह्न उनकी सहायता करते हैं। यह कवि की बताई हुई कुंजी पाता है। विराम-चिह्न कवि द्वारा बताई वह कुँजी है जो पाठक को कवि के ढंग पर ही पढ़ने का नियम बताती है। आवृत्तिकारी जब कविता-पाठ करता होता है तब सहृदय पाठक चुप-चाप उसकी परीक्षा लेता रहता है। यदि छापे के विराम-चिह्नों ने उसको भावाविष्ट बनाने में जितनी सहायता की है उतनी सहायता आवृत्तिकारी का पाठ नहीं करता या गलत ढंग से उसे गुमराह करता है तो सहृदय की दृष्टि में फिर वह तमाशा हो जाता है। मशीन ने जीवित

मनुष्य के साथ कितनी बड़ी प्रतिद्वन्द्विता खड़ी कर रखी है।

यह बात, फिर, एक बड़े भारी परिवर्तन की ओर इशारा कर रही है, जिससे कविता के भविष्य पर बड़ा सुन्दर प्रकाश पड़ता है। कवि और पाठक दोनों छापे की मशीन को अपना अच्छा सहायक समझने लगे हैं।

जब तक दुनिया में छापे की मशीन नहीं थी तब तक मुक्त-छंद भी नहीं थे। भारतवर्ष में गद्य-काव्य था, गद्य को कवियों की निकषा भी कहा जाता था, पर मुक्त-छंद और गद्य-काव्य निश्चय ही एक वस्तु नहीं हैं। समस्त संसार में मुक्त-छंद के प्रचार का कारण मशीने हैं। जब तक इसका आविर्भाव नहीं हुआ था तब तक यदि किसी के मन में भूले-भटके इस प्रकार के मुक्त-छंद की रचना का कोई संकल्प भी रहा हो तो वह उनके साथ ही लोप हो गया। उचित विराम-चिह्नों के साथ, उचित पंक्तिभंग देकर, जब तक छापने की सुविधा न हो तब तक यह समझना मुश्किल ही रहेगा कि कवि किस बात पर जोर देना चाहता है। छापे की सुविधा के साथ मुक्त-छंद का प्रचार सभी देशों में बढ़ा है। परन्तु अभी उस दिन तक मुक्त-छंदों को प्राचीन पद्यशैली की सुकुमारता से अलग नहीं किया जा सका था कवि यद्यपि गद्य लिखता था, फिर भी एक खास झंकार के साथ। श्री दिनेशनन्दिनीजी ने जो गद्य-काव्य लिखे हैं उनमें वही सुकुमारता वर्तमान है। वे पद्यकाव्य से केवल इतनी ही बात में भिन्न हैं कि उनमें नियमित वर्णों या मात्राओं की पुनरावृत्ति

नहीं है। भावों का 'ससज्ज और सलज्ज' अवगुंठन ज्यों का त्यों है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन कविताओं को पढ़ते समय पाठक निश्चय ही कवि-वांछित भावावेश की अवस्था में पहुँच जाता है। हाल ही में इस अवगुंठन को हटा देने का भी प्रयास किया गया है। क्योंकि जैसा कि पहले बताया गया है, कविता अब नेत्रों का और उसके जरिये बुद्धि का विषय बन गई है। वह उस रसात्मकता को आदर्श नहीं मानती जो कुछ-कुछ ढँकी हुई और कुछ-कुछ खुली हुई हो! इसीलिये हाल ही में रवींद्रनाथ ने जब गद्यछंद में प्रयोग शुरू किया तब उन्होंने लिखा था—"गद्यछन्द में अति निरूपित छन्द का बन्धन तोड़ना ही पर्याप्त नहीं है, पद्यकाव्य की भाषा और प्रकाशरीति में जो सलज्ज अवगुंठन की प्रथा है उसे भी दूर कर दिया जायगा, तभी गद्य के स्वाधीन क्षेत्र में उसका संचरण स्वाभाविक हो सकता है। मेरा विश्वास है कि असंकुचित गद्य-रीति से काव्य का अधिकार बहुत दूर तक बढ़ा देना संभव है, और उसी ओर लक्ष्य रखकर मैंने ये कविताएँ लिखी हैं। इनमें कोई कवितायें ऐसी हैं जिनमें तुक नहीं है, पद्य-छन्द है; किन्तु उनमें भी मैंने पद्य की विशेष प्रकार को भाषा-रीति के त्याग करने की चेष्टा की है"—('पुनश्च' की भूमिका में)।

एक अँगरेज समालोचक ने लिखा है कि जब-जब किसी भाषा के साहित्य में छन्दों का परिवर्तन होता है तब-तब उस साहित्य में ऐसी रचना का जन्म होता है जो पीढ़ियों तक जीवित

रहती है और जिस पर उस भाषावालों को गर्व रहता है। भारतवर्ष में इस मत के समर्थक वाल्मीकि और अश्वघोष और प्राकृत तथा हिन्दी के अनेकानेक कवियों के नाम ले सकते हैं। आधुनिक हिन्दी में मैथिलीशरण गुप्त, निराला और पन्त भी इसके उदाहरणस्वरूप पेश किये जा सकते हैं, पर इस मत की पुष्टि करने का मुझे कोई आग्रह नहीं है। यह मत ठीक हो या गलत, मुक्त-छन्दों की कल्पना ने काव्य की प्रकृति बदलने में जो क्रान्तिकारी भाग लिया है उसे भुलाया नहीं जा सकता। कविता इन छन्दों में आकर अपने अन्तिम बंधन से छुटकारा पा गई है। एक-एक करके वह सुर से, अलंकार से, ध्वन्यात्मकता से, झंकार से छूटती हुई पद्यबंध से भी छूट गई है। अति यथार्थवादी-संप्रदाय के कवियों की रचनायें पढ़ने के रहे-सहे संबंध को भी तोड़ रही हैं। इन कविताओं में गणितशास्त्रीय तथा अन्य शास्त्रीय इतने तरह के चिह्न व्यवहृत होने लगे हैं कि उनका पढ़ा जाना असंभव ही है। वे केवल देखने और समझने की चीज हो गई हैं! जो लोग काव्यगत पुराने संस्कारों से मुक्त नहीं हैं—इन पंक्तियों का लिखनेवाला ऐसा ही अभागा है—वे काव्य की इस प्रगति को निराशा के साथ देख सकते हैं, पर यही वह मार्ग है जिस पर से कविता आगे बढ़ रही है, यह सत्य है। वह कुएँ में गिरने जा रही है या पहाड़ पर चढ़ने, यह विवाद का विषय है। कविता की इस भावी गति को सहृदय पाठक खूब समझता है, यद्यपि अनेक समय वह अपनी समझी

हुई बात को साफ-साफ अनुभव नहीं करता होता। यही पाठक कवि-सम्मेलनों को देखने जाता है। कवि-सम्मेलन के कवियों को उसका पता शायद नहीं होता।

एक दूसरी निर्विवाद या कम-से-कम विवाद-योग्य बात यह है कि कवि सौंदर्य से प्रेरणा पाता है। लेकिन दो व्यक्ति किसी एक ही वस्तु के सौंदर्य की मात्रा पर शायद ही एकमत हों। स्पिनोज़ा ने कहा था कि कोई वस्तु सुन्दर है, इसलिये अच्छी नहीं लगती, बल्कि अच्छी है—हमारी आकांक्षाओं को तृप्त कर सकती है—इसलिये वह सुन्दर होती है। अर्थात् सौंदर्य हमारी अपनी रचना है। जिसको हम चाहते हैं वह सुन्दर है। योरपीय देशों में जब वैयक्तिक स्वाधीनता का युग चल रहा था तब कवियों ने इस मत को शिरसा स्वीकार कर लिया था। यह 'टिपिकल' सौंदर्य-निष्ठा के प्रति विद्रोह था। सदियों से कवि लोग अपने पूर्वजों की परम्परा से अपने सिर पर लदी हुई सौंदर्य-भावना को ढोते आ रहे थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अँगरेजी कवि ने इस बोझ को सिर से उतार फेंका। उसने अपनी आँखों से दुनिया को देखा। अर्थात् अपनी व्यक्तिगत आकांक्षाओं की पूर्ति जहां से हो सकती थी वहीं सौंदर्य देखा। वह हवा हिन्दुस्तान में भी बही। हिन्दी में अब भी बह रही है, यद्यपि योरपीय कवि इसके विरुद्ध होता जा रहा है अब वह फिर लौटकर टिपिकल सौंदर्य के आदर्श की ओर नहीं फिर रहा। यह सम्भव नहीं। 'टाइप' की भावना सदियों की बद्धमूल परम्परा

से आती है। आधुनिक युग का कवि ऐसी किसी परम्परा की प्रामाणिकता को स्वीकार नहीं करना चाहता। उसने नया उपयोग शुरू किया है। उसने अनासक्त और निर्वैयक्तिक दृष्टि से वस्तु के सौंदर्य को देखना चाहा है। वह प्रिया को यह कहकर पुकारने में गौरव का अनुभव करता है कि 'हे प्रिये, तुम सूर्य से बड़ी हो, समुद्र से भी और मेढ़क से भी' क्योंकि उसकी दृष्टि में अपनी व्यक्तिगत आसक्ति नहीं है। सूर्य और समुद्र अपने आप में जितने महान हैं, मेढ़क भी अपने आप में उतना ही महान सत्य है। हम मेढ़क को छोटा या कुत्सित इसलिये देखते हैं कि उसे अपनी रुचि-अरुचि और अनुरक्ति-विरक्ति में सान देते हैं। इस नये सहृदय का विश्वास है कि निरासक्त भाव से देखने पर मेढ़क में कहीं भी लघुता और कुत्सितता नहीं है। आज का पाठक पुराना पाठक नहीं है, जो अपनी रुचि-अरुचि को या अपनी पुरानी परम्परा की रुचि-अरुचि को इस बुद्धिगम्य सौंदर्य के मार्ग में वाधा खड़ी करने को प्रोत्साहित करे! वह पत्नी-भक्त पति की भांत इस कविता के प्रत्येक शृंगार को प्रशंसा की दृष्टि से देखता है।

भारतवर्ष के पुराने कवि का ढंग कुछ और था। वह अपनी व्यक्तिगत रुचि-अरुचि को भी प्राधान्य नहीं देता था और न अपने दर्शन-शास्त्र के बहुविघोषित सिद्धान्त 'आब्रह्म-स्तंब-पर्यन्त' ब्रह्म की अद्वैत सत्ता को ही सौंदर्यानुभूति के मार्ग में घसीट लाता था। वह एक ही चाँद को आज पीयूषवर्षी, कल

अंगारवर्षी और परसों चाँद की थाली कह सकता था, बशर्ते कि आज उसकी कल्पित नायिका स्वाधीनपतिका हो, प्रोषितपतिका हो और परसों घर से बाहर चली गई हो। संस्कृत-कवि ने इस काव्य-दृष्टि का परिहास करने के लिये एक संन्यासी के मुँह से कहलवाया था—

येषां वल्लभया समं क्षणमपि क्षिप्रं क्षपा क्षीयते।
तेषां शीतकरः शशी, विरहिणामुल्केव सन्तापकृत्॥
अस्माकं तु न वल्लभा न विरहस्तेनोभयंभ्रशिनाम्।
इन्दू राजति दर्पणाकृतिरसौ नोष्णो न वा शीतलः॥

कवि-सम्मेलन में काव्य-पाठ करने के लिये उतावले कवि अधिकांश इसी प्राचीन युग में ऊँघ रहे हैं जब कि उनका श्रोता मान चुका है कि वह युग बीत गया है। यह भी एक कारण है कि जिससे ये लोग तमाशे की चीज हो जाते हैं।

दृष्टिकोण के परिवर्तन के साथ ही साथ संस्कार-विरोधी इस नये कवि ने भाषा और शैली में भी परिवर्तन कर दिया है। अब ऐसी उपमाओं और ऐसे रूपकों का व्यवहार नहीं करना चाहता जिसको सुनते ही पाठक को प्राचीनता की गंध आने लगे। वह पूरे जोर से पाठक के चित्त को झकझोर कर उस पर से पुराने संस्कार झाड़ देना चाहता है यद्यपि उसकी दृष्टि में कमल का फूल और करैले का फल अपने आपमें समान भाव से सत्य और सुन्दर हैं, तथापि वह अपनी प्रियतमा की आँख से कमलपुष्प को तुलनीय नहीं बनाएगा। ऐसा करने से उसके सिद्धान्त में कोई

भेद तो नहीं आ जाता, परन्तु - उसे इस बात की आशंका रहती है कि पाठक पुराने संस्कारों से बद्ध होने के कारण कहीं उसके नवीन दृष्टिकोण को गलत न समझ लें। इसीलिए वह प्रियतमा की आँख से करैले के फल की ही उपमा देगा। फिर भाषा में की उस सारी सलज्ज सुकुमारता को दूर कर देना चाहेगा, जो पाठक को गलत-फहमी में पड़ने का अवसर दे। वह अब ज्यादा गद्यात्मक भाषा पसंद करने लगा है।

स्वभावतः ही प्रश्न होता है कि आखिर जो कविता छन्द को भी नहीं मानती, अलंकार को भी नहीं मानती, सुर को भी नहीं मानती, उसको हम कविता कहें ही क्यों? उत्तर में इस नवीन कवि का दावा है कि कविता का अनादि काल से जो कार्य रहा है—वह कार्य यह कविता कर रही है। वह अपने पाठक के भीतर भावावेग का संचार करती है, उसे संवेदनशील बनाती है, उसे सोचने-समझने को मजबूर करती है। कविता वही है, पाठक बदल गए हैं। इसीलिए उसने पाठक को वश में करने लायक वेश-भूषा धारण की है। यह आवश्यक नहीं है कि पश्चिम के कवि ने जो रास्ता ग्रहण किया है उसे इस देश के कवि भी आँख मूंद कर अपनावें। परन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि हमारे संस्कार बहुत बदले हैं। और हमारी कविता भी उसके अनुकूल अपने को बनाना चाहेगी। पुराने जमाने में भी देशकाल भेद के अनुसार पाठक बदलते थे और कविता भी अपना रूप उसी आवश्यकता के अनुसार बदलती थी। चीन

और ईरान की कविताओं का वाह्य रूप निश्चय ही एक जैसा नहीं है। केवल इस एक बात के कारण वे दोनों कविता कहलाती हैं कि उनके द्वारा वह कार्य हो रहा है जिसे निर्विवादभाव से कविता का कार्य मान लिया गया है। जमाना बदल गया है, हमारी आवश्यकताएँ बदल गई हैं, हमारी रहन सहन बदल गई है, हमारा दृष्टि-कोण भी बदल गया है। इसको प्रभावित करने का साधन भी बदलना ही चाहिए। यदि हम इस सहज सत्य को मोहवश स्वीकार नहीं करेंगे तो कविता का भविष्य निश्चित रूप से अच्छा नहीं है। और यदि स्वीकार कर लेंगे तो वह अच्छा हो भी सकता है, क्योंकि तब हमारी काव्यधारा कालप्रवाह से पिछड़ी नहीं रहेगी।

——:——

हिन्दी की शक्ति

आज संसार बड़ी भयंकर उथल-पुथल के बीच से गुजर रहा है। प्रत्येक नया क्षण नई आशंकाओं को लेकर अवतीर्ण हो रहा है ऐसा जान पड़ता है, कि अब तक जिस-जिस वस्तु को हम उत्तम और ग्राह्य समझ रहे हैं वे सभी एक भयंकर विनाश के वात्याचक्र में घूम रही हैं। सारी सृष्टि किसी महान् क्रान्ति की प्रसव-वेदना से छटपटा रही है। न जाने वह आनेवाली क्रान्ति-कारी घटना क्या है। इतना ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि वह इस जाति की जीत या उस जाति की हार नहीं हैं। वह एक समूची व्यवस्था की—एक पूरी जोवन-प्रणाली की—मृत्यु या जन्म है। हम भारतवासी शक्तिशाली ब्रिटिश-शासन के वज्र कपाट से आवद्ध हैं, हम उन निश्चित यात्रियों के समान हैं जो वात्या-विलोड़ित समुद्र के ऊपर जूझते-मरते दौड़नेवाले जहाज के अन्धेरे कमरे में बन्द हैं। इसीलिये इस युग की विकरालताओं और घिनौनेपन को हम ठीक-ठीक अनुभव नहीं कर रहे और अपनी छोटी-मोटी वाहियात सुविधाओं या असु-विधाओं के लिये आज दिन भी झगड़ते चले जा रहे हैं। यह देश का भयंकर दुर्भाग्य है कि जिस समय सारा संसार किसी सबसे बड़े तथ्य को रूप देने के लिये प्राणों की बाजी लगाए हुए है, हमारी संकीर्णता बढ़ती ही जा रही है। संकीर्णता ने

हमारे धर्म समाज, साहित्य और भाषा तक को अपना ग्रास बना लिया है। जिधर देखिए निराशा की काली घनी छाया और भी घनी होती जा रही हैं। संसार की समूची शक्ति कुछ थोड़े से केन्द्रों में आबद्ध है और केंद्र बुरी तरह चक्कर मार रहे हैं इसीलिये केंद्रों के चालित होते ही सारा संसार चक्कर मारने लगता है। ठीक ऐसे समय में आपने अपनी इस साहित्य-परिषद् का आयोजन किया है। आप कुछ ऐसा करना चाहते हैं जो इस घोर अन्धकार में कुछ रास्ता दिखा सके, निराशा के कुहरे को छेद कर आशा की ज्योति से दिशाओं को उद्भासित कर सके। मैं यह अपना परम सौभाग्य समझता हूं कि इस महत्त्वपूर्ण अनुष्ठान का पुण्य भागी बनाने के लिये आपने मुझे निमंत्रित किया है। मैंने आपकी इस कृपा को संकोच और कृतज्ञता के साथ स्वीकार कर लिया है। उसमें यदि कहीं औद्धत्य हो तो आप ही उसे क्षमा कर सकते हैं।

आज हम जिस 'भाषा और साहित्य के विषय में विचार करने बैठे हैं उसके विषय में कोई चर्चा आरम्भ करने के पहले हमें यह भली-भाँति समझ लेने की जरूरत है कि हिन्दी भाषा और साहित्य हमारा साध्य ही नहीं, साधन भी है बल्कि हमारी आज की परिस्थिति में वह साध्य की अपेक्षा साधन अधिक है। हिन्दी की प्रतिद्वन्द्विता न तो किसी प्रान्तीय भाषा से है और न संस्कृत, प्राकृत आदि किसी प्राचीन भाषा से। आज से कई सौ वर्ष पहले जो स्थान संस्कृत का था और आज जो स्थान अंग्रेज

का है हिन्दी उसी की वास्तविक अधिकारिणी है। वह संसार के समस्त व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान-विज्ञान और यावत् विषयों को करोड़ो आदमियों तक पहुँचाने का साधन बनना चाहती है। भारतवर्ष में आंशिक रूप से संस्कृत इस कार्य को करने में समर्थ हो सकी थी, परन्तु वह चूंकि पंडितों की भाषा थी और इसीलिये जहाँ भिन्न-भिन्न विषयों की आलोचना योग्यत-पूर्वक कर सकी वहाँ अपना सन्देश देश के और समाज के सभी ऊँचे-नीचे स्तरों तक नहीं पहुँचा सकी। अंग्रेजी विदेशी भाषा है इसलिये वह भी यह कार्य्य उस योग्यता के साथ न कर सकी जिस योग्यता से वह अपने देशों में करती है। हिन्दी का दावा है कि वह इन दोनों के दोषों से मुक्त है। संस्कृत के समान वह सिर्फ पंडितों की भाषा नहीं है और फिर भी संस्कृत की समस्त सम्पत्ति की अपनी अन्यान्य भगिनी भाषाओं के समान स्वाभाविक अधिकारिणी है। दूसरी तरफ अंग्रेजी की भाँति वह विदेशी भाषा नहीं है यद्यपि एक ही युग में पैदा होने के कारण वह अंग्रेजी के उन सभी गुणों को आत्मसात् करने का उचित दावा रखती है जिन्हें युग-धर्म ने अंग्रेजी में अरोपित किया है।

यह हमारा भ्रम है कि अंग्रेजी के सिवा कोई अन्य विदेशी भाषा भी कभी इस देश में उसी प्रकार सांस्कृतिक, व्यावहारिक, और पारमार्थिक विषयों की विवेचना का साधन रही है जिस प्रकार संस्कृत भाषा थी या अंग्रेजी भाषा है। यह जरूर है कि एक अत्यन्त सीमित काल तक फ़ारसी अदालतों की भाषा थी

और फारसी से मिली हुई हिन्दी बाजार की भाषा थी। परन्तु इतनी ही भर। यह भी संस्कृत की हजारों वर्ष की अविच्छिन्न परम्परा की तुलना में अत्यन्त नगण्य है। उन दिनों भी संस्कृत भाषा ही भारतवर्ष की दर्शन, ज्योति, चिकित्सा, व्याकरण, न्याय, धर्म (कानून) आदि व्यावहारिक और पारमार्थिक विषयों के सूक्ष्म विवेचन की भाषा थी और आज भी उसने अपना यह दावा छोड़ नहीं दिया है। आज भी संस्कृत में इन विषयों पर ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं, टीका-टिप्पणी की जा रही है और निष्ठापूर्वक पठन-पाठन हो रहा है। कुछ दिनों से अंग्रेजी भाषा इन विषयों के ठेठ भारतीय रूपों की भी चर्चा करने का भार योग्यतापूर्वक सम्हाल रही है और बहुत जल्दी ही अगर हिन्दी इन विषयों को उससे छीन नहीं लेती तो अगली कई पीढ़ियों तक के लिये वह परमुखापेक्षी बनकर ही रहेगी।

आप मुझे गलत न न समझें। मैं यह बात इसलिये नहीं कह रहा हूँ कि अरबी या फारसी के शब्दों का अपनी भाषा में आने देना मैं अनुचित समझता हूँ। मैं सिर्फ इस बात पर यहाँ जोर देना चाहता हूँ कि हिन्दी संस्कृत की सीधी उत्तराधिकारिणी है और इसीलिये जो कार्य संस्कृत भाषा हजारों वर्ष से इस देश में करती आ रही है, उसको वही योग्यतापूर्वक कर सकती है। साथ ही संस्कृत के शब्दों को गढ़ना और स्वीकार करना उसकी प्रकृति में है। भारतवर्ष का वास्तविक परिचय संस्कृत से हो सकता है और संस्कृत का स्थान आज हिन्दी ही ले सकती है।

एक तरफ हजारों वर्षों की भारतीय चिन्ता-परम्परा और दूसरी तरफ आधुनिक युग की हजारों योजन व्यापी जन-समुदाय की विराट् चिन्ताधारा का वाहन हिन्दी को बनाना है। इसीलिये आज की परिस्थिति में हिन्दी-साहित्य हमारे लिये साध्य की अपेक्षा साधन अधिक है। संस्कृत और अंग्रेजी के आसन की उचित और योग्य अधिकारिणी यह भाषा केवल कविता और कहानी लिखनेवाले की सम्पत्ति नहीं, उससे कहीं बड़ी है, कहीं व्यापक है, कहीं अधिक शक्तिगर्भा है। इस महत्त्व-पूर्ण बात को समझे बिना यदि हम विचार आरम्भ करेंगे, तो हमारे विचार उचित दिशा में नहीं भी जा सकते हैं।

मैंने बहुत पहले बर्ट्रेण्ड रसेल की एक पुस्तक में पढ़ा था कि जो प्रेम ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होता है, वही श्रेष्ठ प्रेम है; केवल ज्ञान जीवन का बोझ हो जाता है, केवल श्रद्धा आदमी को डुबा देती है। अपनी मातृभाषा के प्रति हमारा जो प्रेम है, वह भी ज्ञान द्वारा चालित और श्रद्धा द्वारा अनुगमित होना चाहिए। इस विकट काल में, जब कि बाहर से और भीतर से हमारी भाषा और उसके द्वारा पोषित संस्कृति को उखाड़ फेंकने की मूर्खतापूर्ण चेष्टा की जा रही है, हमें ठीक-ठीक जानना चाहिए कि हमारी वास्तविक शक्ति क्या और कहाँ है? केवल अन्ध श्रद्धा के आवेश में हिन्दी-हिन्दी चिल्लाना फिजूल है, कभी कभी इस प्रकार की चिल्लाहट से हम अपनी शक्ति ही नहीं नष्ट करते, अपनी भाषा के पक्ष को कमजोर भी बना देते हैं। मैं

जब कहता हूँ कि हमारी भाषा और उसके द्वारा पोषित संस्कृति को उखाड़ फेंकने की मूर्खतापूर्ण चेष्टा की जा रही है, तो मैं काफी सोच समझकर ही कह रहा हूँ। एक बार भारतवर्ष के मानचित्र पर दृष्टि डोजिए तो आपको मालूम होगा कि हिन्दी कितने विराट जन-समुदाय की भाषा है, उसकी जड़ें कितने गहरे तक पहुँची हुई हैं। विहार, युक्तप्रान्त, महाकोशल, राजस्थान, मध्य-भारत और अधिकांश पञ्जाब की जनता जिस भाषा को अपनी मातृभाषा और साहित्य-भाषा समझती हो, उसको इस कागज के या उस चाँदी के टुकड़े पर जगह न देना या इस स्टेशन से या उस प्रेस से उसकी उपेक्षा करना, खुरपी लेकर हिमालय खोदना है। ऐसा करनेवाले का प्रयत्न मूर्खतापूर्ण नहीं तो क्या है? हिन्दी सचमुच ही हिमालय की भाँति भारतवर्ष से हटाई नहीं जा सकती और उसीके समान उन्नत-शिरा होकर रहेगी। उसे उखाड़ने की चेष्टा अगर कहीं से की जा रही है, तो चेष्टा करने-वाले की इस मंशा से अपमान भले ही हो जाय, उसका उद्देश्य जरूर व्यर्थ होगा। मैं आशा करता हूँ कि आपलोगों में से कोई भी यदि इस प्रकार की चेष्टा से दुःखित हैं तो सिर्फ इस अपमान के कारण, उच्छेद की आशंका से नहीं। लेकिन इसी स्थान पर मैं आपको स्मरण दिला दूं कि हिन्दी इसलिये महान नहीं है कि हममें से कुछ लोग इस भाषा में कविता या कहानी लिख लेते हैं या सभा-मंचों पर व्याख्यान दे लेते हैं। हजारों सभा-मंचों, सैकड़ों विद्यालयों, कोड़ियों प्रेसों और दर्जनों विश्वविद्यालयों

और विद्यापीठों से नित्य मुखरित होती रहनेवाली इस भाषा के इस शक्तिशाली यन्त्र की महत्ता मैं स्वीकार करता हूं, पर हिन्दी को इतनी ही सी सीमा में आबद्ध समझना उसकी महती शक्ति को गलत कूतना है। हिन्दी इस विराट मशीनरी के कारण बड़ी नहीं है। वह इसलिये बड़ी है कि करोड़-करोड़ जनता का हृदय और मस्तिष्क की भूख मिटाने का वह इस देश में सबसे जबर्दस्त साधन है; वह इसलिये बड़ी है कि भारतवर्ष की हजारों वर्ष की अपरिमेय चिन्ताराशि को ठीक-ठीक सुरक्षित रख सकने का वह सबसे मजबूत पात्र है, वह इसलिये बड़ी है कि करोड़ों की तादाद में अकारण कुचली हुई गूँगी जनता तक आशा और उत्साह का सन्देश इसी जीवन्त और समर्थ भाषा के द्वारा दिया जा सकता है; वह इसलिए बड़ी है कि उसके आंचल की छाया में ऐसे हजारों महापुरुषों के पनपने की सम्भावना है, जो न केवल इस देश को, बल्कि समूचे संसार को विनाश के मार्ग से बचाने की साधना करेंगे। हिन्दी में यह सम्भावनाएँ मौजूद हैं, भारतवर्ष की सभी प्रान्तीय भाषाओं में थोड़ी-बहुत ये सम्भावनाएँ है पर हिन्दी में वह सबसे अधिक है। अगर हम हिन्दी के इसी महत्त्व को समझकर इन्हीं सम्भावनाओं को स्वरूप देने के लिए हिन्दी की साधना कर रहे हैं, तभी हमारी साधना का महत्त्व है, तभी हमारी श्रद्धा का मूल्य है। यदि हम इन बातों का विचार किए बिना केवल इस भाषा का विरोध करने के लिये या उस भाषा की स्तुति करने के लिये अन्ध-श्रद्धा के आवेश में

हिन्दी हिन्दी चिल्ला रहे हैं, तो निश्चित रूप से गलत रास्ते जा रहे हैं। मुझे यह ज्ञानकर सन्तोष है कि आपकी साहित्य-परिषद् ने साहित्य को संकीर्ण अर्थ में नहीं लिया है, आप जनता के साथ सदा सम्पर्क में रहने की चेष्टा करते रहे हैं, आप महिलाओं में भी कुछ शिक्षा-प्रचार का प्रयत्न करते रहे हैं और ज्ञान-वितरण के लिए आपके अधिकांश सदस्यों तथा अन्य नागरिकों ने पुस्तकालय की भी व्यवस्था की है। अच्छा होता, यह पुस्तकालय परिषद् के साथ ही होता। क्योंकि पुस्तकालय के बिना साहित्य सभाएँ ठूंठी ही हैं और साहित्य-सभाओं के बिना पुस्तकालय अपना सन्देश उचित मात्रा में वितरित नहीं कर सकता।

मैं आशा करता हूं कि मेरी भांति आपका भी विश्वास है कि' साहित्य-सभाएँ कवि, नाटककार या दार्शनिक पैदा नहीं कर सकतीं। वे केवल क्षेत्र तैयार कर सकती हैं और कवियों, नाटककारों, दार्शनिकों और विद्वानों का सम्मान कर सकती हैं। इस कार्यका सबसे बड़ा साधन पुस्तकालय है। हमारे देशके दुर्भाग्य की कोई सीमा नहीं है, साहित्य-सभाएँ उपयुक्त साहित्य के लिये पुस्तकालय और प्रदर्शिनियों का उपयोग करती हैं परन्तु पुस्तकालय का उपयोग कर सकने लायक जनता कहाँ है? इस निरक्षर देश में इसीलिये साहित्य-सभाओं की जिम्मेदारी बहुत बड़ी हैं। उन्हें पीर-बवर्ची-भिश्ती-खर सभी बनना है। हम जो कुछ भी क्यों न करें, एकदम शुरूसे चलने को बाध्य हैं। परन्तु परिस्थिति चाहे जितनी भी कठिन क्यों न हो, हमें रास्ता तो निकालना ही

पड़ेगा। अन्य देशों में साहित्यिक कार्य चाहे जो भी क्यों न हो, अपने देश में उसकी जिम्मेदारी अत्यधिक है। वह बुद्धि-विलासी बनकर नहीं रह सकता। उसके लिये सब कुछ करने को बाकी है। हमारी साहित्यिक संस्थाओं के करने के इतने काम हैं कि जब कुछ लोग पूछते हैं कि हम क्या करें तो बड़ी झुंझलाहट होती है। हमने क्या किया है? हमारा इतिहास विदेशी भाषा में विदेशी लोगों ने थोड़ा-बहुत लिखा है, हमारी जनता के आचार-व्यवहार, रीति-नीति, भाषा-भाव के बारे में विदेशियों ने ही विदेशी भाषा में काम किया है। यहाँ तक कि हमारे कीड़े-मकोड़े, पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, जंगल-झाड़ सब कुछ के बारे में विदेशी भाषा में ही जानने के योग्य बातें संगृहीत हैं। जिस भाषा से करोड़-करोड़ जनता अपनी मानसिक भूख मिटाने की आशा लगाए बैठी हो उसमें इतना भी न हो तो कैसे समझा जाय कि हम सचमुच ही उस भाषा से प्रेम करते हैं? आँख उठा कर देखिए—आपके सामने चींटी-मक्खी से लेकर पहाड़ मैदान तक जो कुछ दिख रहा है उसके विषय में ज्ञान प्राप्त करने के लिये साधन अपनी भाषा में एकदम नहीं है। जिनके लिये पैसे की बिलकुल जरूरत नहीं केवल उत्साह और सूझ की जरूरत है ऐसे सैकड़ों विषय हमारे साहित्यिकों का इन्तजार कर रहे हैं, आपकी परिषद् वह सूझ और उत्साह दे सकती है। ये काम कोई केन्द्रीय संस्था करेगी, यह आशा आप न रखें। यह आपको ही करना होगा और आपकी परिषद् को ही केन्द्र बन जाना

होगा। मैं यहाँ आदरणीय पण्डित बनारसी दास चतुर्वेदी के शब्दों को उद्धृत करता हूँ जिनसे अधिक योग्यतापूर्वक यह बात दूसरा नहीं समझा सकता।

"वर्षों के अध्ययन और मनन के बाद हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि पन्द्रह करोड़ आदमियों की साहित्यिक भूख मिटाने का काम न अकेला साहित्य-सम्मेलन कर सकता है और न नागरी-प्रचारिणी सभा ही। इन दोनों महान् संस्थाओं के महत्त्व-पूर्ण कार्यों की यथोचित प्रशंसा करना हम सबका कर्तव्य है। कौन ऐसा कृतघ्न होगा जो इनके महत्त्व से इन्कार कर सके? पर मुख्य प्रश्न यह है कि क्या हम अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक शक्ति को प्रयाग या काशी या वर्धा में केन्द्रित करना पसन्द करते हैं? यदि हम ऐसा करेंगे तो हिन्दी के साहित्यिक शरीर को लकवा मार जायगा। जरूरत इस बात की है कि हमारे यहाँ जिले-जिले में और नगर-नगर में साहित्य-सभाएँ और साहित्य परिषदें तथा हिन्दी-समाज और नगरी-प्रचारिणी-सभाएँ कायम हों। ज्योति तथा शक्ति का केन्द्र इन छोटी-छोटी संस्थाओं को बनाना चाहिए। बड़ी-बड़ी संस्थाओं का मुंह ताकते रहने से हम लोग परमुखापेक्षी और निर्बल बन जायँगे। सारा प्रश्न है डिसेंट्रलाइजेशन का— अर्थात् केन्द्रीय शक्ति को सम्पूर्ण हिन्दी जगत् में व्याप्त करने का। राजनीतिक क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति अथवा एक समूह के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति दे देने का समर्थन इस कारण से किया भी जा सकता है कि हमलोग पराधीन हैं

और हमें अपने विरोधियों के हाथ से सत्ता छीनकर स्वयं अपने घर का मालिक बनना है, पर साहित्य-क्षेत्र में ऐसी कोई बात नहीं है।

"हमें जिस चीज की सख्त जरूरत है वह है सजीव व्यक्तित्व। संस्थाएँ तो पुरुष की छायामात्र होती हैं। जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में पहले का वह जमाना नहीं रहा जब लोग बड़े दिन के अवसर पर जाग्रत होकर काँग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हो जाते थे और अपने को धन्य मान लेते थे वैसे ही साहित्यक्षेत्र में भी अब युग-परिवर्त्तन होने वाला है, बल्कि यों कहिए कि हो गया है। साहित्यक्षेत्र का नेतृत्व अब उन हाथों में नहीं रह सकता जो दान लेना ही जानते हैं, देना नहीं; और न वह रह सकता है उन बहुधंधी नेताओं के कर-कमलों में जो राजनीति और साहित्य इन दो घोड़ों की बग्घी में बैठकर बागडोर अपने ही हाथों में रखना चाहते हैं। हिन्दी साहित्य में जमाना इस तेजी के साथ आगे बढ़ रहा है कि २५ वर्ष के बजाय पीढ़ी अब दस-बारह वर्ष की होने लगी है। इसमें अपरिग्रही तथा निरन्तर दानशील व्यक्ति ही सजीव तथा स्फूर्तिमय रह सकते हैं।"

जिनमें यह दानशीलता नहीं है, जो नदी की भाँति अपने को लुटाते हुए नहीं चल सकते, जो अपनी ही तपस्या की अग्नि में आप ही नहीं जल रहे, वे जितनी बड़ी संस्था की कुर्सी दखल किए क्यों न बैठे हों, साहित्य का कोई उपकार नहीं कर सकते।

होगा। मैं यहाँ आदरणीय पण्डित बनारसी दास चतुर्वेदी के शब्दों को उद्धृत करता हूँ जिनसे अधिक योग्यतापूर्वक यह बात दूसरा नहीं समझा सकता।

"वर्षों के अध्ययन और मनन के बाद हम इस सिद्धान्त पर पहुँचे हैं कि पन्द्रह करोड़ आदमियों की साहित्यिक भूख मिटाने का काम न अकेला साहित्य-सम्मेलन कर सकता है और न नागरी-प्रचारिणी सभा ही। इन दोनों महान् संस्थाओं के महत्त्व-पूर्ण कार्यों की यथोचित प्रशंसा करना हम सबका कर्तव्य है। कौन ऐसा कृतघ्न होगा जो इनके महत्त्व से इन्कार कर सके? पर मुख्य प्रश्न यह है कि क्या हम अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक शक्ति को प्रयाग या काशी या वर्धा में केन्द्रित करना पसन्द करते हैं? यदि हम ऐसा करेंगे तो हिन्दी के साहित्यिक शरीर को लकवा मार जायगा। जरूरत इस बात की है कि हमारे यहाँ जिले-जिले में और नगर-नगर में साहित्य-सभाएँ और साहित्य परिषदें तथा हिन्दी-समाज और नगरी-प्रचारिणी-सभाएँ कायम हों। ज्योति तथा शक्ति का केन्द्र इन छोटी-छोटी संस्थाओं को बनाना चाहिए। बड़ी-बड़ी संस्थाओं का मुंह ताकते रहने से हम लोग परमुखापेक्षी और निर्बल बन जायँगे। सारा प्रश्न है डिसेंट्रलाइजेशन का—अर्थात् केन्द्रीय शक्ति को सम्पूर्ण हिन्दी जगत् में व्याप्त करने का। राजनीतिक क्षेत्र में किसी एक व्यक्ति अथवा एक समूह के हाथ में सम्पूर्ण शक्ति दे देने का समर्थन इस कारण से किया भी जा सकता है कि हमलोग पराधीन हैं

और हमें अपने विरोधियों के हाथ से सत्ता छीनकर स्वयं अपने घर का मालिक बनना है, पर साहित्य-क्षेत्र में ऐसी कोई बात नहीं है।

"हमें जिस चीज की सख्त जरूरत है वह है सजीव व्यक्तित्व। संस्थाएँ तो पुरुष की छायामात्र होती हैं। जिस प्रकार राजनीतिक क्षेत्र में पहले का वह जमाना नहीं रहा जब लोग बड़े दिन के अवसर पर जाग्रत होकर काँग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हो जाते थे और अपने को धन्य मान लेते थे वैसे ही साहित्यक्षेत्र में भी अब युग-परिवर्त्तन होने वाला है, बल्कि यों कहिए कि हो गया है। साहित्यक्षेत्र का नेतृत्व अब उन हाथों में नहीं रह सकता जो दान लेना ही जानते हैं, देना नहीं; और न वह रह सकता है उन बहुधंधी नेताओं के कर-कमलों में जो राजनीति और साहित्य इन दो घोड़ों की बग्घी में बैठकर बागडोर अपने ही हाथों में रखना चाहते हैं। हिन्दी साहित्य में जमाना इस तेजी के साथ आगे बढ़ रहा है कि २५ वर्ष के बजाय पीढ़ी अब दस-बारह वर्ष की होने लगी है। इसमें अपरिग्रही तथा निरन्तर दानशील व्यक्ति ही सजीव तथा स्फूर्तिमय रह सकते हैं।"

जिनमें यह दानशीलता नहीं है, जो नदी की भाँति अपने को लुटाते हुए नहीं चल सकते, जो अपनी ही तपस्या की अग्नि में आप ही नहीं जल रहे, वे जितनी बड़ी संस्था की कुर्सी दखल किए क्यों न बैठे हों, साहित्य का कोई उपकार नहीं कर सकते।

पर जिनमें यह निरन्तर दानशीलता है, जिनमें मुक्त दृष्टि का विकास है, जो ज्ञान और कर्म के सव्यसाची हैं वे जिस कोने में भी क्यों न बैठे हों, जितनी छोटी जगह पर क्यों न रह रहे हों वे साहित्य को समृद्ध करेंगे ही। प्रतिभा बड़े-बड़े महलों और नगरों की मुखापेक्षिणी नहीं है। कभी-कभी परम्परा और रूढ़ियाँ बड़ी-बड़ी संस्थाओं की भयंकर बाधा हो उठती हैं, छोटी-छोटी संस्थाएँ इनसे मुक्त हैं; वे उस महान् क्रान्तिकारी परविर्त्तन को सहज ही वरण कर सकेंगी जिसकी सूचना निश्चित रूप से मिल रही है।

आज जो संकीर्ण बाधाएँ हमारे सामने आ खड़ी हुई हैं उनमें की अधिकांश हमारे सड़े-गले पुराने संस्कारों के कारण संभव हुई हैं। हममें से अधिकांश अब भी उन्नीसवीं शताब्दी की भाषा में सोचते हैं। हममें से बहुतेरे जब उन्नीसवीं शताब्दी की भाषा और साहित्य सम्बन्धी चखचखों और राजनीतिक सम्बन्धों और मुकदमों के आधार पर इस पक्ष का खंडन या उस पक्ष का समर्थन करते रहते हैं तो दुर्दैव पर्दे के पीछे हँसता रहता है। आज की सामाजिक मर्यादा, राष्ट्रीय चौहद्दियाँ और राजनीतिक संधियाँ कूलंकषा नदी के तटद्रुम हो रही हैं। वे सदा इसी भाँति नहीं रहेंगी। दुनिया बड़ी तेजी से बदल रही है और अगर हम अभी से सावधान नहीं हो जाते तो परिवर्तन का रथ-चक्र बुरी तरह से हमारे सुख-स्वप्नों और वृथा दुःस्वप्नों को एक ही साथ पीस जायगा। हमें क्षणभंगुर रूढ़ियों की नींव पर अपने रंगीन सपनों का महल नहीं उठाना चाहिए। हमें अपनी वास्तविक शक्ति का

पता लगाकर शान्तचित्त से और दृढ़ विश्वास के साथ अपनी प्यारी मातृभाषा को इस योग्य बना देना चाहिए जो आनेवाले परिवर्तनों को अम्लान चित्त से स्वीकार कर सके। भविष्य में अगर हिन्दी को कहीं से खतरा है तो वह बाहर की किसी संस्था से या भाषा से नहीं, वह खतरा हमारी अपनी ही कमजोरी की ओर से है। अगर हम हिन्दी को एक ऐसी भाषा बना दें जो सर्वसाधारण के निकट अंग्रेजी की ही भाँति विदेशी बनी रहे या संस्कृत की तरह कुछ चुने हुए विद्वानों की मनोविनोदिनी भाषा हो सके तो उसे हम इतना कमजोर बना देंगे जितना कोई भी दूसरी शक्ति नहीं बना सकती। आनेवाला काल उनलोगों का होगा जो आज उपेक्षित हैं, दीन हैं, भुला दिये गये हैं। अगर हमने अपनी भाषा ऐसी नहीं बना दी जो उनके भी काम आ सके, उनके भी हृदय में साहस और सद्वृत्तियों को उत्तेजित कर उन्हें भी मनुष्यता के दरबार में समान आसन दिला सके तो निश्चित मानिये कि हमारी और आपकी प्यारी मातृभाषा के नसीब अच्छे नहीं हैं। साथ ही यदि हम इस भाषा को सिर्फ ऐसे लोगों की भाषा बनाकर चुप बैठ जायँ जो सीखने ही वाले हैं, जो वर्त्तमान ज्ञान के प्रकाशसे एकदम वंचित हैं तब भी हम उसे उस महिमा-भरे पद पर नहीं पहुँचा सकगे जहाँ से वह संसार के बड़े से बड़े विचारकों को चिन्तन सामग्री दे सके, जहाँ पहुँचे विना कोई भाषा इस युग में गिनी जाने योग्य नहीं रह जाती। इसलिए हमें इस भाषा को

इस योग्य बना देना है जो अत्यन्त साधारण मजदूर से लेकर अत्यन्त विकसित मस्तिष्क के बुद्धिजीवी के दिमाग में समान भाव से विचारण कर सके। इसमें से कोई भी पक्ष किसी से कम या अधिक महत्त्वपूर्ण नहीं है। बड़ी-बड़ी योजनाओं की जरूरत नहीं है! हम सभी अपनी शक्ति के अनुसार अपनी-अपनी रुचि के विषय चुन कर काम शुरू कर दें तो यह असाध्य साधन शीघ्र ही सिद्ध हो सकता है। आपकी परिषद् और पुस्तकालय को इस विषय में रुचि रखनेवाले साहित्यिकों के लिये साधन जुटाना चाहिए। यही इसकी सार्थकता है।

कभी-कभी जब मैं हिन्दीभाषी सज्जनों को उत्साहपूर्वक उन अन्य भाषाभाषियों पर आक्रमण करते देखता हूँ जो हिन्दी को कोई भाषा नहीं मानना चाहते—राष्ट्र की या प्रान्तकी—तो मैं सोचता हूँ कि समूची हिन्दीभाषी जनता में सचमुच ऐसे लोगोंके प्रति रोष है या उनके प्रति रोष प्रकट करनेवालों के प्रति सहानुभूति है। कभी-कभी इससे उल्टी बात का ही प्रमाण मिलता है और मैं उद्वेग के साथ सोचता हूँ कि हमलोगों में से जो लोग हिन्दी की आवाज बुलन्द कर रहे हैं क्या वे हिन्दी की मिट्टी में अपनी जड़ें काफी गहरी फेंक सकने का दावा कर सकते हैं? युक्तप्रान्त की बात मैं जानता हूँ। एक अर्से तक आन्दोलन करने के बाद, पं० मालवीयजी तथा अन्यान्य प्रभावशाली लोगों का डेपुटेशन जाने के बाद, लाखों आदमियों के हस्ताक्षर के साथ अर्जी देने के बाद वहाँ की अदालतों की लिपि देवनागरी स्वीकृत

की गई थी परन्तु आज भी वहाँ की अदालतों में वही कठिनाई-भरी लिपि उसी उद्दाम गति से चल रही है। अर्जी देने वालों और आन्दोलन करनेवालों ने कहा था कि उन्हें फारसी लिपि में लिखी गई विज्ञप्तियों के पढ़ने में कठिनाई होती है पर आज वर्षों से उस कठिनाई के दूर होने का रास्ता निकल गया है पर कठिनाई बनी हुई है और मजा यह है कि बनी रहने पर भी महसूस नहीं हो रही है? हिन्दी के अनेक चोटी के लेखक वकील हैं और हिन्दी-पक्ष में बड़ी-बड़ी बहसें कर सकते हैं। पर कुछ थोड़े से ही ऐसे होंगे जिन्होंने नागरीलिपि के माध्यम से काम करना शुरू किया हो। यहाँ बिहार में क्या हाल है, मुझे नहीं मालूम। शायद वही दास्ताना यहाँ का भी हो। मैं सोचता हूं कि क्या इतने दिनों की अकर्मण्यता से हम ने पुराने आन्दोलनकारियों की दलीलों को गलत साबित कर देने का अप्रत्यक्ष प्रयत्न नहीं किया है? मैं आश्चर्य के साथ सोचता हूं कि क्या हममें साहस का अभाव है या अपनी बातों पर हमें विश्वास ही नहीं है? या फिर मैं सोचता हूँ कि क्या वे लोग अपने को हिन्दी-भाषी मानते ही नहीं जो किसी प्रकार अदालतों या दफ्तरों से सम्बन्ध रखते हैं? इस बात से क्या यह सिद्ध नहीं होता कि हम अधिकार पाने पर भी उसे निभाने में अपने को असमर्थ घोषित कर रहे हैं। जिला और नगर की परिषदें अगर इस मामले को विश्वास और ईमानदारी के साथ हाथ में लें और हिन्दी अक्षरों और भाषा के सम्बन्ध में एक जबर्दस्त लोक-

मत तैयार करें तो शायद कुछ काम हो सकता है। सचपूछिये तो यह कम से कम है जिसकी किसी जिला साहित्य-परिषद् या नगर साहित्य-परिषद् से आशा की जाती है।

यदि किसी देश का वाह्य रूप सम्मान-योग्य तथा सुन्दर नहीं बन सका है तो समझना चाहिये कि उस राष्ट्र की आत्मा में एक उच्च जगत् का निर्माण किया जाना शुरू नहीं हुआ है अर्थात् वहाँ सच्चे साहित्य के निर्माण का श्रीगणेश नहीं हुआ है। साहित्य ही मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत और उन्नत बनाता है । तभी उसका वाह्य रूप भी साफ और स्वस्थ दिखाई देता है। और साथ ही वाह्य रूप के साफ और स्वस्थ होने से आन्तरिक स्वास्थ्य का भी आरम्भ होता है। दोनों ही बातें अन्योन्याश्रय हैं। जब हमारे देश में नाना भाँति के कुसंस्कार और गन्दगी वर्त्तमान हैं, जब कि हमारे समाज का आधा अंग पर्दे में ढंका हुआ है, जब कि हमारी नब्बे फी सदी जनता अब भी अज्ञान और रूढ़ियों के तलवे के नीचे दबी हुई है तब हमें मानना चाहिये कि अभी दिल्ली बहुत दूर है। हम साहित्य के नाम पर जो कुछ कर रहे हैं और जो कुछ दे रहे हैं उसमें कहीं बड़ी भारी कमी रह गई है। हमारा भीतर और बाहर अब भी साफ और स्वस्थ नहीं है। ऐसी हालत में हमारी सभा की सब से बड़ी सार्थकता यही हो सकती है कि हम अपने सदस्यों में एक ऐसी अदमनीय आकांक्षा जागृत कर दें जो सारे मानव-समाज को भीतर से और बाहर से सुन्दर तथा सम्मान-योग्य देखने के

लिये सदा व्याकुल रहे। अगर यह आकांक्षा जाग्रत हो सकी तो हम में से प्रत्येक अपनी अपनी शक्ति के अनुसार उन सामग्रियों को जरूर संग्रह कर लेगा जो उक्त इच्छा की पूर्ति की सहायक हैं। अगर यह आकांक्षा नहीं जाग्रत हुई है तो जितनी भी विद्या क्यों न पढ़ी हो, वह एक जंजालमात्र सिद्ध होगी और दुनियादारी और चालाकी ढकोसला ही बनी रहेगी। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने एक जगह लिखा है कि रास्ता ही हमें रास्ता दिखायेगा —पथ आमारे पथ देखावे। जो साहित्यिक निष्ठा के साथ इस इच्छा को लेकर रास्ते पर निकल पड़ेगा वह स्वयं अपना रास्ता खोज निकालेगा। साधन की अल्पता से कोई महती इच्छा आज तक नहीं रुकी है। भूख होनी चाहिए; एक बार भूख के होने पर खाद्य-सामग्री जुट ही जाती है पर खाद्य-सामग्री के भरे रहने पर भूख नहीं लगती। गरुड़ ने उत्पन्न होते ही कहा था, माँ बहुत भूख लगी है। माता विनता घबड़ा कर विलाप करने लगी कि इस प्रचण्ड क्षुधाशाली पुत्र को अन्न कहाँ से दें। पिता काश्यप ने आश्वासन देकर कहा था, कोई चिन्ता की बात नहीं। महान् पुत्र उत्पन्न हुआ है क्योंकि उसकी भूख महान् है। हमारी भाषा को भी इस समय प्रचण्ड साहित्यिक क्षुधा वाले महान् पुत्रों की आवश्यकता है। जब तक हमारी भाषा-माता के गर्भ से ऐसे कृती पुत्र नहीं पैदा होते तभी तक वह विनता की तरह लांछित हो रही है। समय आयेगा जब ऐसे महापुरुष शीघ्र ही इसकी कुक्षि से पैदा होंगे, उस दिन दुनिया देखेगी,

कि ऐसा कौन साहसी होता है जो सिंह के केसर को पैर से छूने की हिम्मत करता है—

कः कंठीरवकंठकेसरसटाभारं स्पृशत्यंघ्रिणा !

—अभी तो हमें धैर्य और निष्ठाके साथ उनके स्वागत-सत्कार का आयोजन करते रहना है।

मैंने अभी आप से कहा है कि साहित्य-परिषद् और पुस्तकालय साथ-साथ काम करें तो बहुत अधिक लाभ होगा; और अन्त में आप से एक और निवेदन करना चाहता हूँ आप का यह प्रदेश प्राचीन भारतीय गौरव का सब से बड़ा साक्षी है। इसके प्रत्येक जिले और प्रत्येक थाने में ऐतिहासिक महत्त्व की सामग्रियाँ बिखरी हुई हैं। आपने शायद अनुभव भी किया होगा कि गलत आदमियों के हाथों पड़ कर ये चीज़ें बुरी तरह नष्ट हो रही हैं। सरकार की ओर से इन महत्त्वपूर्ण वस्तुओं की रक्षा की व्यवस्था है परन्तु इस विषय में भी हम केन्द्रीय संस्था के मुखापेक्षी बनकर नहीं रह सकते। आप इन अमूल्य वस्तुओं को एक संग्रहालय में संग्रह करते जायँ। आप अपने ही नगर और जिले के विशेषज्ञ विद्वानों से इसका वर्गीकरण करायें और उनको सर्वसाधारण के निकट परिचित करायें। यह कार्य बहुत महत्त्व का है और इसके करने में देर करने का बिलकुल अवसर नहीं है। इसके साथ ही आप अपने जिले की आधुनिक कारीगरियों, घरेलू कलात्मक वस्तुओं, खिलौनों आदि का संग्रह भी करते जायँ। इस संग्रहों के बिना पुस्तकालय अधूरा रहेगा और अगर आप

इन्हें संग्रह करके उचित ढंग से रखते गये तो सिर्फ इन वस्तुओं को देखने के लिये ही संसारभरके कला-विशेषज्ञ और ऐतिहासिक पंडित आपकी इस पुण्यभूमि की तीर्थयात्रा फिर से करेंगे। हुएन्त्सांग ने देखा था कि यहाँ के देव-मन्दिरों में बहुत-से ऋषियों के उपदेश सुरक्षित थे। इसका मतलब यह हुआ कि इस संग्रह कार्य में आप के पुरखे बहुत प्रवीण थे। क्यों न हम भी उनके पदांक का अनुसरण करें। आप इस बात की बिलकुल चिंता न करें कि आपके साधन कम हैं। मैं फिर यहाँ चतुर्वेदीजी के ही शब्दों में आप से कहना चाहता हूं कि "सदुद्देश्य से किया हुआ कोई भी कार्य व्यर्थ नहीं जाता। जिस देश में भगीरथ ६१वीं पीढ़ी में गंगा को लाये थे उसके निवासियों को निराश होने की जरूरत नहीं। क्या संस्कृति की सुरसरि एक दिन में, दो-चार वर्षों में ही इस महाद्वीप को सरस बना सकती है? क्या वटवृक्ष दो-चार दिन में उग सकता है? जो बीज आज आप बोयेंगे सम्भवतः वह कई वर्ष बाद अंकुरित होगा और उसके पल्लवित होते-होते अनेक वर्ष लग जायँगे। हमें तो 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन" के अनुसार काम करना चाहिये।"

मुझे मलूम है कि दुर्दैव ने आप के इस नगर पर निर्मम प्रहार किया है, आपमें से अधिकांश ही उस कठोर विपत्ति को नाना रूपों में भोग चुके हैं। मैं नहीं जानता, आप लोगों में से कितने गृहहीन हुए हैं और कितने अपने प्रियजनों से सदा के लिये वियुक्त हो गये हैं। शायद आप में से अधिकांश दोनों प्रकार की विपत्तियों

के शिकार हुये थे। मुझे मालूम है कि आपकी साहित्यिक साधना में भी इस आकस्मिक विपत्ति के कारण बाधा पड़ी है, आपको बहुत-कुछ नये सिरे से शुरू करना पड़ा है। मैं नहीं जानता कि किन शब्दों में मैं आप को उस विपत्ति के लिये आश्वस्त करूँ। परन्तु मेरा दृढ़ विश्वास है कि बड़ी विपत्ति- बड़ों के ही पास आती है। आप इस महान् संकटकाल को धैर्यपूर्वक सहन करके नई उमंग के साथ फिर कर्म-क्षेत्र में आ जुटे हैं, यह आपके महत्त्व का ही परिचायक है! निस्सन्देह भगवान ने आपको किसी बृहत्तर कार्य के लिये तैयार किया था। आपने जो दैवी विपत्ति एक दिन के लिये देखी थी उसके समान और उससे भी अधिक क्रूर मानवी विपत्ति आज यूरोप के नगरों में नित्य-प्रति ताण्डव कर रही है। नित्य ही हजारों निरीह प्रजाओं के घरमें आग लग रही है, मृत्यु की विकराल छाया पड़ रही है, माताएँ निपूती हो रही हैं, बच्चे टूअर बन रहे हैं, विधवाओं के करुण क्रन्दन से आसमान फट रहा है, धरित्री आसुरी भारसे कलमला उठी है। और भी विकट दिनों के आने की धमकियाँ दी जा रही हैं। भारतवर्ष में आज उस करुण और घिनौने दृश्य को कोई अनुभव करने का योग्य अधिकारी है तो निस्सन्देह आपही हैं क्योंकि दुर्दैव ने आपको कुछ इसी प्रकारकी विपत्ति में फेंका था। आज संसार का बड़ा भयंकर दुर्भाग्य यह है कि यद्यपि सारा संसार इन घृणा भरे समाचारों को सुनता है पर अनुभव शायद ही कोई कर सकता है। जिस दिन बेलजियम के

एक शहर में एक लाख आदमियों को अग्निवर्षा गोलों से बर्बर सैनिकोंने भून दिया उस दिन हमलोग चाय पीते-पीते इस राक्षसी कृत्य की आलोचना कर रहे थे। हममें से किसी ने उस समाचार को ठीक-ठीक हृदयंगम नहीं किया था। एक लाख आदमियों की मृत्यु! न जाने कितनी माताओं के निर्जीव शव पर रेंगते हुए शिशु स्यारों और गिद्धों के आहार बन गये होंगे, न जाने कितने रोग-जर्जर वृद्ध पानी के अभाव में छटपटा कर मर गये होंगे, न जाने कितनी सुहागिनें प्रियजनों की बगल में ही सदा के लिये सो गई होंगी – इस आसुरी मारी की पूति गंध से नजाने कौन-सा भयंकर रोग वहाँ फैला होगा। हमने कुछ समझा ही नहीं। हमारी अनुभूति बुरी तरह भोथी हो गई है। आपके शहर के संवेदना-शील युवक इस वीभत्स अवस्था का अन्त करने की शक्ति रखते होंगे। शायद दुर्दैव ने आपको संसार के उद्धार के लिये ही पहले से तैयार कर रखा था। आप अपने उन कवियों और लेखकों को जरूर खोजें जो संसार की भोथी कल्पनावृत्ति को पैनी कर सकें। भगवान ने जरूर उन्हें यहाँ वह शक्ति देकर ही भेजा है।

(मुंगेर हिन्दी-परिषद् के सभापति-पद से)

भारतीय साहित्य की प्राण-शक्ति

भारतीय साहित्य का अध्ययन करनेवाले जिस किसी को एक बात जरूर लगेगी। वह यह कि इस समूचे साहित्य में 'अकस्मात्' घट जानेवाली कोई बात नहीं पाई जाती। जो बात ग्रीक ट्रेजेडी की जान है, वही भारतीय साहित्य में सावधानी के साथ दूर रखी गई है। यहाँ के काव्यों और नाटकों के लेखकों में से अधिकांश की प्रवृत्ति यह रही है कि उसकी कथा लोक-विश्रुत हो और उसका नायक और उसकी नायिका प्रसिद्ध वंश-जात और इतिहास-समर्थित पुरुष-स्त्री हों। विदेशी साहित्य में पाठक की कुतूहली वृत्ति को सदा जागरूक रखने की जो चेष्टा है, भारतीय साहित्य में उसका एकांत अभाव कभी कभी विदेशी पाठक को खटक जाता है और कभी-कभी आधुनिक-शिक्षाप्राप्त भारतीय विद्वान को भी सदोष जान पड़ता है। इसीलिए भारतीय साहित्य के अध्येता के लिए इस प्रवृत्ति का कारण जान लेना बहुत आवश्यक है। अगर वह इस प्रवृत्ति को नहीं जानता तो भारतीय साहित्य के आधे गुणदोष को वह नहीं पहचान सकता। उसकी प्रशंसा और उसकी निंदा दोनों ही समान भाव से उपेक्षणीय होंगी। सारे संसार की अपेक्षा भारतवर्ष के साहित्य की एक निश्चित विशेषता है और उस विशेषता का कारण एक भारतीय विश्वास है। यह है पुनर्जन्म और कर्मफल का सिद्धांत।

प्रत्येक पुरुष को अपने किये का फल भोगना ही पड़ेगा। प्रलय भी हो जाय तो भी वह अपनी करनी के फल से मुक्त नहीं हो सकता। महाभारत में कहा गया है कि पूर्व सृष्टि में प्रत्येक प्राण ने जो कुछ कर्म किया हो, वह कर्म पुनः पुनः सृज्यमान होता हुआ उसे परवर्तीकाल में भी मिलेगा ही (महाभारतःशांति०, २३१,४८-४६), फिर वह उसे भोगने को तैयार हो या नहीं। समस्त भारतीय साहित्य में पुनः पुनः कर्मबंध से मुक्त होने का उपाय बताया गया है। समस्त शास्त्र अपना अंतिम लक्ष्य जन्म-कर्म के बंधन से छुटकारा पाने को कहते हैं। इस सिद्धांत का जितना व्यापक और जबर्दस्त प्रभाव हिन्दू संस्कृति, हिन्दू साहित्य और हिन्दू जीवन पर पड़ा है, उतना किसी भी और दार्शनिक सिद्धांत का किसी भी और जाति पर पड़ा है या नहीं, नहीं मालूम।

पुनर्जन्म का सिद्धांत वैसे तो खोजने पर अन्यान्य देशों में भी किसी न किसी रूप में मिल जा सकता है, परन्तु कर्मफल-प्राप्ति का सिद्धांत कहीं भी नहीं मिलता। यह बात इतनी सच है कि पिछली शताब्दी में पण्डितों में यह साधारण विश्वास-सा हो गया था कि जहां कहीं पुनर्जन्म का सिद्धांत है, वहीं वह भारतीय मनीषा की देन है। सुप्रसिद्ध ग्रीक दार्शनिक पाइथागोरस ने पुनर्जन्म के सिद्धांत को माना है और उसे लेकर प्राच्य विद्या-विशारदों में एक समय में काफी मनोरंजक वाग्युद्ध हो गया है। विलियम जोंस, कोलब्रुक, गार्वे, होपकिंस प्रभृत विदेशी विद्वानों

ने स्वीकार किया है कि उक्त सिद्धांत को पाइथागोरस ने किसी भारतीय पण्डित से ही सीखा था। कुछ यूरोपियन पण्डितों को यह भारतीय गौरव पसन्द नहीं। इन लोगों ने यह सिद्ध करने का भरपूर प्रयत्न किया है कि हिन्दुओं ने ही उक्त बात ग्रीक पंडित से सीखी होगी। प्रो० बर्नेट ऐसे ही विद्वानों में प्रमुख हैं [Early Greek philosophy (1908) P. 21]। सुप्रसिद्ध प्राच्य-विद्या-विशारद डा० बी० ए० कीथ ने इस विषय पर एक बहुत ही अध्ययनपूर्ण प्रबंध लिखा था, जिसमें वे इस नतीजे पर पहुँचे थे कि पाइथागोरस के ऊपर किसी भारतीय मत का प्रभाव तो नहीं हैं, पर निस्संदेह कर्मबंध का भारतीय सिद्धांत अद्वितीय है (Journal of Royal Asiatic Society P. 569)। जो कोई भी भारतीय धर्ममत और साहित्य को जानना चाहता है, वह इस सिद्धांत को जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता। देखा जाय, यह सिद्धान्त क्या है।

साधारणतः समस्त भारतीय मनीषियों ने इस गुणमय जगत् पर विचार करके यह निष्कर्ष निकाला है कि इसमें दो अत्यंत स्पष्ट तत्त्व हैं। एक शाश्वत है, दूसरा परिवर्तनशील; एक सदा एक-रस है दूसरा नाशमान; एक चेतन है, दूसरा जड़। मतभेद तब शुरू होता है, जब उनके सम्बन्धों पर विचार किया जाता है। एक तरह के पण्डित हैं, जो इन दोनों तत्त्वों को स्वतंत्र मानते हैं, इन दोनों का सम्बन्ध केवल योग्यता का सम्बन्ध है, परन्तु दूसरे आचार्य हैं, जो मानते हैं कि वस्तुतः इन दोनों की सत्ता नहीं है,

दूसरा पहले की ही शक्ति है। पहले को आत्मा कहते हैं; सांख्यवादी उसे 'पुरुष' कहते हैं और दूसरे तत्त्व को प्रकृति या माया कहते हैं। गीता में भगवान ने प्रकृति को अपने ही अधीन बताया है और कहा है कि मेरे द्वारा नियोजित होकर ही प्रकृति इस सचराचर सृष्टि को प्रसव करती है (गीता—६, १०)। वेद-बाह्य बौद्धादि संप्रदाय के लोग यह मानते हैं कि यह चेतन सत्ता साधना के द्वारा जब प्रकृति के बन्धनों से मुक्त होती है तो उसी प्रकार लुप्त हो जाती है, जिस प्रकार दीपक की लौ; परन्तु इस बात में वे भी विश्वास करते हैं कि शरीर और इंद्रियादि की अपेक्षा वह वस्तु अधिक स्थायी है। वह सैकड़ों जन्म ग्रहण करने के बाद सैकड़ों शरीरों, इन्द्रियों से युक्त हो लेने के बाद निर्वाण की अवस्था को अर्थात् बुझ जाने की अवस्था को प्राप्त होती है। सांख्यशास्त्रियों के मत से पुरुष अनेक हैं और प्रकृति उन्हें अपने मायाजाल में बांधती है। पुरुष विशुद्ध चेतनस्वरूप, उदासीन और ज्ञाता है। जब तक उसे अपने इस स्वरूप का ज्ञान नहीं हो जाता, तभी तक वह उसके जाल में फँसा रहता है। यह दृश्यमान जगत् वस्तुतः प्रकृति का ही विकास है।

जो हो, इस विषय में भारतीय दार्शनिकों में प्रायः कोई मत-भेद नहीं कि आत्मा नामक एक स्थायी वस्तु है, जो बाहरी दृश्य-मान जगत् के विविध परिवर्तनों के भीतर से गुजरता हुआ सदा एक-रस रहता है। ये पण्डित स्वीकार करते हैं कि जब तक ज्ञान

नहीं हो जाता, तब तक यह आत्मा जन्म-कर्म के बन्धन से मुक्त नहीं हो सकता। अब प्रश्न यह है कि यदि यह पुरुष या आत्मा उदासीन है, या दुःख-सुख से परे है और चित्स्वरूप है तो जन्म और कर्म के बंधन में पड़ता कैसे है और मृत्यु के बाद एक जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में ढोकर क्यों ले जाता है? जो निर्गुण है, उसे आधार बनाकर पाप और पुण्य के फल कैसे दूसरे जन्म में पहुँच जाते हैं? क्योंकि यह तो सभी मानते हैं कि कर्मफल जड़ है, अतः उनमें इच्छा नहीं होती, इसलिये यह तो साफ प्रकट है कि वे इच्छापूर्वक आत्मा का पीछा नहीं कर सकते, फिर यह कैसे संभव है कि इस जन्म का कर्मफल दूसरे जन्म में मिलता ही है? सीधा जवाब यह है कि ईश्वर इस व्यवस्था को इस ढंग से चला रहा है, परंतु यह उत्तर युक्तिवादी दार्शनिकों को पसंद नहीं है। वे उसका और कोई कारण बताते हैं।

इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये शास्त्रकारों ने लिंगशरीर की बात बताई है। यह तो निश्चित है कि आत्मा एक शरीर से दूसरे में संक्रमित होता है। गीता में भगवान् ने कहा है कि जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्र को छोड़कर नया धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण शरीर को परित्याग कर नवीन शरीर धारण करता है (गीता—२,२२)। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में बताया गया है कि जोंक जिस प्रकार एक तृण से दूसरे पर जाते समय पहले अपने शरीर का अगला

हिस्सा रखता है, और फिर बाकी हिस्से को खींच लेता है, उसी प्रकार आत्मा पुराने शरीर को छोड़कर नये शरीर में प्रवेश करता है। आत्मा को जब अपनी और प्रकृति या माया की वास्तविक सत्ता का ज्ञान हो जाता है, तभी कर्मबन्ध से मुक्त हो जाता है। भगवान् ने गीता में कहा है कि अग्नि समस्त कर्मों को भस्मसात् कर देती है और ज्ञान से बढ़कर कोई वस्तु पवित्र नहीं है (गीता—४·३७२८) उपनिषदों में ब्रह्म को सत्य-स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप, और आनंद-स्वरूप कहा गया है (तैत्तिरीय—२-१; वृहदारण्यक—३।६।२२)। ऐसा मानने के कारण समूचा हिंदू साहित्य-ज्ञान को एक विशेष दृष्टिकोण से देखता है। वह यह नहीं मानता कि ज्ञान की प्राप्ति में मनुष्य नित्य अग्रसर होता जा रहा है। उसकी दृष्टि में चरम ज्ञान अपने आप में ही है। यद्यपि ज्ञान अनंत है, पर उसका अपना वास्तविक रूप भी वैसा ही है इसलिए चरम और अनंत ज्ञान को पाना असंभव तो है ही नहीं, उसके साध्य के भीतर ही है। हिंदू-साहित्य में इसीलिए नित्य नवीन ज्ञान के अनुसंधान के प्रति एक प्रकार की उदासीनता का भाव है। वह उस विद्या को विद्या ही नहीं मानता, जो मुक्ति का कारण न हो, जो मनुष्य को कर्मबंधन से छुटकारा न दिला दे। इस बात ने भी सारे हिंदू-साहित्य को प्रभावित किया है।

शास्त्रकारों ने कर्म को समझाने के लिए कई प्रकार के भेद किये हैं। मनुस्मृति में कहा गया है कि कायिक, वाचिक, और

मानसिक, ये तीन प्रकार के कर्म हैं और उनकी गति भी उत्तम, मध्यम और अधम भेद से तीन प्रकार की होती है (मनु—१२३)। शातातप ने सैकड़ों प्रकार के पापों, उनके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले रोगों का उल्लेख किया है और उनके प्रायश्चित का भी विधान किया है। पुराणों में कर्मविपाक के विषय में बहुत कुछ कहा गया है। गरुड़ पुराण में विस्तृत रूप से अनेक कर्म और तज्जन्य प्राप्य फलों का उल्लेख है। शास्त्रों में साधारणतः तीन प्रकार के कर्म बताये गये हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण। मनुष्य ने जो कुछ कर्म किया है, उसे संचित कर्म कहते हैं। जिस पुराने कर्म के फल को वह भोग रहा है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं। जो कुछ वह नये सिरे से करने जा रहा है, उसे क्रियमाण कर्म कहते हैं। ज्ञान होने पर संचित कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, पर प्रारब्ध कर्म को भोगना ही पड़ता है। ज्ञान की अग्नि से संचित कर्म जलकर दग्धबीज की तरह निष्फल हो जाते हैं और ज्ञानी प्रारब्ध कर्मों के संस्कारवश उसी प्रकार शरीर धारण किये रहता है, जैसे कुम्हार का चलाया हुआ चक्र दण्ड उठा लेने पर भी वेगवश कुछ देर चलता रहता है। इन बातों में स्वर्ग और नरक के विचार भी सम्मिलित हैं। कर्मबन्ध के दार्शनिक रूप के साथ स्वर्ग-नरक के पौराणिक विचारों का सामंजस्य भी किया गया है। साधारणतः पुण्य कर्म के लिए आत्मा का कुछ दिन तक स्वर्ग में रहना और फिर पुण्य क्षीण होने पर मर्त्यलोक में आ जाना (गीता—९.२०-२१) और इसी

तरह पाप भोग के लिए कुछ दिन नरक में जाना और भोग लेने के बाद फिर मर्त्यलोक में आ जाने की बात भी कही गई है। सांख्यकारिका में बताया गया है (सां० का०—४१) कि धर्म (पुण्य) के द्वारा ऊर्ध्वगमन, अधर्म (पाप) के द्वारा अधोगमन होता है। ज्ञान से मोक्ष और अज्ञान से बंधन होता है। महाभारत में एक और विचित्र बात यह बताई गई है (स्वर्गारोहण पर्व—३.१४) कि जो आदमी अधिक पुण्यशाली होता है, वह पहले अपने स्वल्प पापों को भोगने के लिए नरक में जाता है और जो आदमी अधिक पापी होता है, वह उसी प्रकार अपने स्वल्प पुण्यों को भोगने के लिये पहले स्वर्ग में जाता है और फिर नरक में। कुछ विद्वानों का विचार है कि स्वर्ग-नरक-विचार और मोक्ष-विचार दोनों दो जाति के भारतीय मनीषियों की चिन्ता के परिचायक हैं। पहले विचार वैदिक ऋषियों के हैं और दूसरे वेदबाह्य आर्येतर मुनियों के। उपनिषद् काल में ये दोनों विचार मिलना शुरू हुये थे और काव्यकाल में पूर्ण रूप से मिलकर एक जटिल परलोक-व्यवस्था में परिणत हो गये। जो हो, ऊपर की आलोचना का निष्कर्ष यह है कि—

(१) आत्मा अविनश्वर है।

(२) चरम ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

(३) ज्ञान प्राप्त किये विना जीव का छुटकारा नहीं होता।

(४) ज्ञान वही है, जो जीवात्मा को कर्मबन्ध से मुक्त कर सके।

(५) ज्ञान प्राप्त किये बिना शरीर त्याग करने पर जीवात्मा अपने साथ लिंग-शरीर और कर्मफल-जन्य संस्कारों को ले जाता है।

(६) जो करता है, वही भोगता है।

(७) ज्ञान-प्राप्ति के लिये बुद्धि का शोधन आवश्यक है। शुभ बुद्धि से ही ज्ञान संभव है।

इस शास्त्रीय चर्चा को थोड़ा और भी आगे बढ़ाकर इसके प्रभावों की उत्थापना की जाय। हिंदू विश्वास के अनुसार मनुष्य पैदा होते ही तीन प्रकार के ऋणों को अपने साथ लेकर उत्पन्न होता है। [मनु...४,२५७; विष्णुसंहिता—३७। ये तीन ऋण हैं--देव-ऋण, ऋषि-ऋण और पितृ-ऋण, पैदा होते ही मनुष्य को कुछ सुविधाएँ प्राप्त हो जाती हैं। वह अपने शरीर और इंद्रियों को पाता है, जो उसके समस्त आनंदोपभोग के लिये आवश्यक साधन हैं ? यह अपने माता-पिता से पाताहै। यह ऋण को वह और किसी भी तरह नहीं चुका सकता, केवल एक उपाय है और वह यह कि इस धारा को आगे बढ़ा दिया जाय। इसी तरह वह समूचे ज्ञान-विज्ञान को, जिसे प्रत्यक्ष और सुलभ करने के लिये अनेकानेक मनीषियों ने अपने जीवन दे दिये हैं, अनायास ही पा जाता है। इस बातके लिए वह अपने पूर्वतन आचार्यों का अवश्य ऋणी है। इस ऋण को भी वह चुका नहीं सकता। चुकाने का एक उपाय यही है कि ज्ञान-विज्ञान की धारा को वह सुरक्षित रखे और यथासंभव आगे बढ़ा जाय। अध्ययन-अध्यापन

से ही यह कार्य हो सकता है। फिर एक तरह की सुविधा भी मनुष्य को जन्म के साथ ही मिल जाती है। समस्त जगत् की प्राकृतिक शक्तियाँ, जिन्हें प्राचीन आर्य देवता कहते थे, न होतीं तो मनुष्य कुछ भी करने में असमर्थ था। प्राचीनों का विश्वास था कि यज्ञ के द्वारा इन शक्तियों को तृप्त किया जा सकता है। मनु ने इसीलिए कहा है कि गृहस्थ को तीन प्रकार के ऋणों से मुक्त होने के बाद ही मोक्ष में मनोनिवेश करना चाहिये। विधिवत् वेदों का अध्ययन करके, पुत्रों का उत्पादन करके और यथाशक्ति यज्ञों का यजन करके ही मोक्ष की चिन्ता में मनोविवेश करना चाहिए। इन कार्यों को किये बिना ही मोक्ष की इच्छा रखने वाला द्विज अधःपतित होता है (मनु—६.३५—३७) महाभारत में भी इन ऋणों की चर्चा है। इन्हें चुकाये बिना मनुष्य के समस्त कार्य अधूरे हैं। इस ऋण सम्बन्धी विश्वास का बहुत बड़ा प्रभाव समग्र भारतीय साहित्य पर पड़ा है। हिंदू आदर्श के लिए पितृत्व या मातृत्व रुचि का प्रश्न नहीं है, बल्कि आवश्यक कर्तव्य है। इसका पालन न करने से पाप होता है, परंतु पालन करने से कोई पुण्य नहीं होता। हिन्दू शास्त्रों में पुरुष के लिये तो ब्रह्मचर्य का आदर्श स्वीकृत है और मनु कहते हैं कि विधवाएँ भी पुत्र उत्पन्न किये बिना ही सद्गति पा सकती हैं, उसी प्रकार जैसे ब्रह्मचारी लोग पाते हैं (मनु—५.१६०)। परन्तु यह वचन ही इस बात का सबूत है कि पुत्रोत्पादन किये बिना सद्गति नहीं होती। जिनकी सद्गति ऐसी अवस्था में हो

जाती है, वे अपवाद ही हैं। वस्तुतः हिन्दू विश्वास के अनुसार मातृत्व स्त्री-जीवन की चरम साधना नहीं है, यद्यपि आजकल के कुछ पण्डित हिन्दू विश्वासों की ऐसी ही व्याख्या करने लगे हैं। मातृत्व और पितृत्व भी चरम साधना का अधिकारी होने की आवश्यक शर्त है। चरम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति है, या और भी सही अर्थों में आत्मज्ञान है। इसी प्रकार अब तक संसार के मनीषियों ने जो कुछ भी ज्ञान अर्जन किया है, उसका अध्ययन-अध्यापन उक्त बात का अधिकारी होने के लिए आवश्यक शर्त है। यही कारण है कि हिंदुओं के निकट कोई भी ज्ञान उपेक्षणीय नहीं है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि हिन्दुओं ने अपने साहित्य में नाना जाति के ज्ञान-विज्ञान को इस अपनापन के साथ ग्रहण किया है कि पण्डितों को यह निर्णय करने में प्रायः ही अड़चनों का सामना करना पड़ता है कि कौन-सा ज्ञान किस देश से ग्रहण किया गया है। बाहरी विद्वानों के ज्ञान को अपना बनाकर प्रकट करने की कला में कोई भी भारतीयों का मुकाबला नहीं कर सकता। सीरियनों की राशिगणना, ग्रीकों का होराशास्त्र, अरबों का ताजक शास्त्र, यक्षों की कविप्रसिद्धियाँ, आर्येतर जातियों की आध्यात्मिक चिंताएँ और देव-कल्पनाएँ इस प्रकार आर्य मनीषियों की चिन्ता-राशि में मिल गई हैं और ऐसी प्राण-शक्ति पाकर जीवन्त हो उठी हैं कि उनको अलग कर सकना आज साहस का कार्य हो गया है। बाहरी ज्ञान को हिन्दू आचार्यों ने इतने दर्द के साथ अपनाया है, ऐसा रूमादार दिया है, इतना मार्जित कर

लिया है कि देखनेवालों को आश्चर्य होता है। इसी प्रकार देव-ऋण को चुकाने में भी हिन्दुओं ने कमाल किया है। उनके साहित्य में प्रकृति की प्रत्येक शक्ति इतनी जीवित और सम्पन्न रूप में चित्रित हुई है कि संस्कृत के किसी काव्य में से उसे अलग नहीं किया जा सकता। यह स्पष्ट ही है कि ऐसा करके हिन्दू कुछ धनात्मक कार्य नहीं करता, वह महज ऋणात्मक कर्तव्यों का पालन करता है, केवल ऋण चुकाता है।

ऊपर की बातों को संक्षेप में इस प्रकार रखा जा सकता है—

(१) पुत्रोत्पादन आवश्यक कर्तव्य है। इसके किये विना पुरुष या स्त्री—ब्रह्मचारी और विधवा के अपवादों को छोड़कर—आत्मज्ञान के अधिकारी नहीं हैं।

(२) इसीलिए पुत्रोत्पादन अर्थात् पितृत्व या मातृत्व की प्राप्ति केवल साधन है, साध्य नहीं।

(३) ज्ञान—अर्थात् मोक्षप्राप्ति के लिए सहायक मानी जानेवाली विद्या—कहीं से भी ग्रहण करना, उसकी रक्षा करना और वृद्धि करना केवल उचित ही नहीं आवश्यक कर्त्तव्य है। यह भी मोक्ष का साधन है।

(४) देवताओं या प्राकृतिक शक्तियों को सम्पन्न बनाना आवश्यक कर्त्तव्य है।

यह कहना अनावश्यक जान पड़ता है कि न तो पूर्वार्जित कर्मों के भोग में मनुष्य स्वाधीन है और न ऋण चुकाने के ऊपर कहे हुए कर्तव्य-पालन में। एक को उसे भोगना ही पड़ेगा

और दूसरे को उसे करना ही पड़ेगा। ऐसी अवस्था में यह संदेह हो सकता है कि हिंदू विश्वास मनुष्य को संपूर्ण निराशावादी और भाग्यवादी बना देता है। ऊपर से देखने पर यह बात गलत भी नहीं मालूम पड़ती और साहित्य में भी इन विश्वासों का सुदूर प्रसारी फल साफ प्रकट होता है। इसने कवियों और शास्त्राध्यपकों की मनोवृत्ति इस प्रकार मोड़ दी है, जिसकी तुलना सारे संसार में नहीं मिलती। हजारों वर्ष के भारतीय इतिहास में जो नीच समझी जानेवाली जातियों ने कभी भी उत्कट विद्रोह नहीं किया, वह इन्हीं विश्वासों को स्वीकार करने के कारण। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि उसके लिए किसी का कर्म-फल दूर नहीं हो सकता। चांडाल अपनी दुर्गति के लिए कर्म-फल की दुहाई देता है और ब्राह्मण अपने उच्च पद के लिए भी कर्म की ही दुहाई देता है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म-फल के लिए आप ही जिम्मेदार है, तो न तो कोई उसे किसी दूसरे के बदले भोग ही सकता है और न उद्योग करके उसके संचित और प्रारब्ध कर्मों को बदल ही सकता है। इस सिद्धांत ने कर्म के सामूहिक उद्योग के क्षेत्र में हिन्दुओं को बाधा पहुँचाई है और उनकी मनोवृत्ति को विच्छेद-प्रवण बनाने में सहायता दी है। इतना ही नहीं, उन्हें जागतिक व्यवस्था के प्रति उदासीन भी बना दिया है। जब प्रत्येक कार्य का निश्चित और न्यायसंगत कारण है तो किसी अन्याय के विरुद्ध विद्रोह करने का सवाल ही नहीं उठता। और जब विद्रोह करने की भावना दब जाती है तो जाति स्थिर भाव से अधःपतन

की ओर बढ़ती है। हिन्दू-साहित्य और समाज का यह पहलू सचमुच ही बहुत शोचनीय है। परन्तु इसके सिवा भी एक बात है, जो निश्चय ही महान् है।

वह बात है पुरुषार्थों की कल्पना। हिंदू शास्त्र मनुष्य के लिए केवल कर्मफल-भोग और ऋण चुकाने की ही व्यवस्था नहीं करते, वे कुछ धनात्मक कार्य करने का भी विधान करते हैं। ये धनात्मक कार्य ही पुरुषार्थ हैं। पुरुषार्थ चार हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इन्हीं पुरुषार्थों की प्राप्ति के उपाय बताने के लिए समूचा संस्कृत-साहित्य लिखा गया है। जो कुछ भी इस साहित्य में पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए लिखा गया है, वह दुनिया के साहित्य में बेजोड़ है। जो कुछ कर्मफल का और ऋणों के चुकाने का निर्देश देने के लिए लिखा गया है, वह केवल समाजशास्त्री के कुतूहल का विषय है। पुरुषार्थों में सबसे श्रेष्ठ पुरुषार्थ —परम पुरुपार्थ—मोक्ष है। मोक्ष के विधायक वेद, उपनिषद् आरण्यक, दर्शन शास्त्र आदि विषय केवल भारतीय साहित्य की ही नहीं, संसार के साहित्य के गर्व और गौरव की वस्तु हैं। बहुत बाद में वैष्णव आचार्यों ने इन चारों के अतिरिक्त एक पांचवें पुरुषार्थ की कल्पना की है। यह है भक्ति या भगवद् विषयक प्रेम—'प्रेमा पुमर्थो महान्,। और निस्संदेह इस पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए जो कुछ लिखा गया है, वह अद्वितीय है।

हमारा आलोच्य विषय काव्य क्या है ? क्या वह कर्मफल का निर्देशक है, या ऋण चुकाने का व्यवस्थापक, या पुरुषार्थ-

धर्मानुमोदित परंपरा को स्वीकार करने कारण ही 'चंडकौशिक' जैसे नाटक १ लिखे जा सके हैं, जहाँ एक अभागे राजा की दानशीलता से उत्पन्न ऋषि विश्वा-मित्र की विक्षिप्तजनोचित बदला लेने की भावना से तर्क और मनुष्यता के प्रति बेहद विद्रोहाचरण हुआ है।" ऐसी बातें केवल एक पंडित ने नहीं लिखी है। आये दिन यूरोपियन समालोचक बहुत-सी ऊलजलूल बातें कहते ही रहते हैं। ऊपर के उद्धरण के लेखक भारतीय साहित्य के एक माने हुए पंडित हैं और ऊलजलूल टिप्पणी करनेवाले ईसाई लेखकों की बातों का अनेक बार सप्रमाण खंडन भी कर चुके हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि उन्होंने जान-बूझकर भारतीय साहित्य को छोटा करके दिखाने का प्रयास किया है और न हम यही कहना चाहते हैं की उनकी बातों में सचाई नहीं है। सचाई भी अगर गलत ढंग से देखी जाती है तो अवहेलनीय लगने लगती है। हमने ऊपर जिन सिद्धांतों को देखा है, उन्हें माननेवाला मनुष्य कभी भी 'जीवन के गंभीरतर' प्रश्नों का उत्तर देने की जरूरत नहीं समझेगा; क्योंकि उसकी दृष्टि में 'जीवनके गंभीरतर' प्रश्नों का समाधान हो चुका रहता है। बाकी प्रश्न केवल ऊपरी और भ्रमजन्य हैं। वस्तुतः ईमानदारी के होते हुए भी यूरोपियन पंडित और उनके आधुनिक भारतीय शिष्य भारतीय साहित्य के प्रति न्याय नहीं कर पाते

१ हिंदी के पाठक भारतेंदु हरिश्चन्द्र के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक को पढ़कर उक्त वक्तव्य की सचाई जाँच सकते हैं।

क्योंकि, जैसा कि कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज प्रसिद्ध अंग्रेज साधक सर जॉन उडरफ ने कहा है १—"साधारण यूरोपियन प्राच्य-विद्या-विशारद तथा वे लोग जो इस देश में (हिन्दुस्तान में) उनकी उँगली पकड़ कर चला करते हैं कुछ ऐसे अवहेलामूलक विश्वासों का पोषण करते हैं कि भारतीय विचार केवल 'ऐतिहासिक' कुतूहल के विषय हैं और इस प्रकार के विचार किसी बौद्धिक प्रदर्शनी के लिए ही स्वागत-योग्य वस्तु है। इसके सिवा उनका और कोई मूल्य नहीं है, न कोई उनकी वास्तविक सत्ता ही है। यही कारण है कि प्राचीन पूर्वीय ज्ञान और आधुनिक आविष्कारों में जो आश्चर्यजनक साम्य है, इस तथ्य को वे स्वीकार नहीं कर सकते।" केवल यही नहीं, यूरोपियन पंडित यह अनुभव नहीं कर सकते कि भारतीय साहित्य एक जीवित जाति की साधना है। मनुष्य प्रायः अपने संस्कारों से ऊपर उठकर देखने में असमर्थ होता है। बर्ट्रेंड रसेल ने लिखा है २ कि आधुनिक यूरोपियन सत्यता तीन उत्सों से आई है, ग्रीक विचार, बाइबिल और आधुनिक विज्ञान। इन्हीं तीनों से आधुनिक यूरोपियन पंडित की दृष्टि प्रभावित होती है। इन दोनों के घात-प्रतिघात से उसके मानस-पट पर एक विशेष प्रकार का जीवन सम्बन्धी सत्य अंकित होता है। उसी सत्य की माप से वह वस्तुओं को मापता है। जहां तक साहित्य का सम्बन्ध

1. Creation as explained in the Tantra.
2. Whither mankind.

है, वह ग्रीक मनीषियों से अधिक प्रभावित होता है। उसकी एतद्विषयक चिन्ता पर बाइबिल का प्रभाव नहीं के बराबर है। और आधुनिक विज्ञान ने साहित्य के बाह्य रूप को ही अधिक प्रभावित किया है। यहाँ प्रश्न है कि ग्रीक विचार, बाइबिल और आधुनिक विज्ञान के मिश्रण से जो संस्कार बने हैं, वही क्या एकमात्र सत्य सिद्धांत हैं? यदि वे सत्य हों तो आर्य-चिंतन, द्रविड़ विश्वास और आधुनिक विज्ञान के मिश्रण से जो भारतीय संस्कार बना है और बनने जा रहा है, वही क्यों नहीं सत्य होगा? इस दृष्टि से देखा जाय तो ग्रीस की बड़ी से बड़ी ट्रैजेडी के लेखक के बारे में श्री कीथ की ही शैली में कहा जा सकता है कि, "ग्रीक साहित्य के श्रेष्ठ नाटककार भी मायाजन्य भ्रममूलक बातों को ही जीवन के गंभीरतर प्रश्न समझते रहे। इस परिवर्तमान जगत् के भीतर एक शाश्वत सत्ता है, एक चिन्मय पुरुष है, जो जड़ प्रकृति के कर्मप्रवाह से एकदम निर्लिप्त है; यह सहज बात उनके मस्तिष्क में कभी आई ही नहीं। ट्रोजन की पौराणिक कल्पनाओं के आधार पर जो नाटक लिखे गये हैं, वे कभी जीवन के वास्तविक गांभीर्य तक पहुँचे ही नहीं। वे एक उद्देश्यहीन मायाजाल में पड़े छटपटाते रहे, जहां पद पद पर उन्हें परस्परविरोधी कर्तव्यों की उलझन सताती रही और अन्त तक वे किसी सामंजस्य-मूलक व्यवस्था का पता न लगा सके। ग्रीक पौराणिक कल्पना ने नाटकीय दृष्टि को कितना विशृंखल बना दिया है, उस बात को ग्रीक नाटकों का समूचा इतिहास प्रमाणित

करता है" इत्यादि। कहना व्यर्थ है कि इस प्रकार भारतीय संस्कारों से देखने पर हम ग्रीक साहित्य का अधिकांश सौंदर्य खो देंगे और फिर भी अपने विश्वासों के प्रति ईमानदार बने रहेंगे! वस्तुतः यह उचित मार्ग नहीं है। ग्रीक संस्कारों के चश्मे से भारतीय संस्कारों को देखना उतना ही अनुचित है, जितना भारतीय संस्कारों के चश्में से ग्रीक साहित्य को देखना। दुर्भाग्य-वश भारतीय साहित्य को यूरोपियन पण्डितों ने ऐसे ही देखा है और आधुनिक शिक्षाप्राप्त भारतवासी भी वैसे ही देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। आधुनिक भारतीय शिक्षा में भारतीय संस्कारों की अपेक्षा पश्चिमी संस्कार ही अधिक हैं। यह ध्यान में रखने की बात है कि ग्रीक काव्य और ट्रैजेडी पर उसी प्रकार ग्रीक पौराणिक कथाओं का प्रभाव है, जिस प्रकार भारतीय नाटकों और काव्यों पर भारतीय पुराणों का। ग्रीक पौराणिक कथाएँ ही 'ट्रैजेडी' जैसी चीज़ को जन्म दे सकती हैं, जहाँ किसी मर्त्यलोकवासी की सुन्दरता, कर्तव्य-परायणता या कोई और सद्‌गुण अकारण ही स्वर्ग के देवता के कोप का कारण हो जाता है। भारतीय पुराणों में एक भी ऐसी कहानी नहीं मिलेगी। यहाँ प्रत्येक सुख-दुःख का कारण अपना ही कर्म है। इस विश्वास को जो लोग संकीर्णता कहते हैं, वे उस विश्वास को मात्स्य न्याय कहना भूल जाते हैं।

वस्तुतः काव्य जैसे सुकुमार वस्तु की आलोचना के लिये अपने संस्कारों से बहुत ऊपर उठने की जरूरत है, फिर वे

संस्कार चाहे देशगत हों या काल-गत। भारतीय साहित्यिक समाज-व्यवस्था में कोई असामंजस्य नहीं देख सकता था और न ऐसी बातों का उसके निकट कोई विशेष मूल्य ही था, जिन्हें हम जीवन के गंभीरतर प्रश्न कहा करते हैं। वह गलती पर हो सकता है, नहीं भी हो सकता है,—प्रधान प्रश्न उसके सिद्धांतों की सचाई जाँच करने की नहीं है (क्योंकि वह अन्य क्षेत्र का प्रश्न है), प्रधान प्रश्न यह है कि अपने विश्वासों से आबद्ध रहकर उसने जो सृष्टि की है, उसका सौंदर्य कहाँ है? उसके सौंदर्य का आदर्श क्या है? और वह उसकी सृष्टि करने में कहाँ तक समर्थ हुआ है?

नया साहित्यिक दृष्टिकोण

इस युग में ज्यों-ज्यों भिन्न-भिन्न समुदायों की चिन्ताएँ एक दूसरे के निकट आती गई हैं, त्यों-त्यों प्राचीन रूढ़ियों से उनका छुटकारा होता गया है। जिस प्रकार अन्यान्य शास्त्रों में, उसी प्रकार कविता, चित्रकला, मूर्त्तिकला, आदि में भी, एक सार्वभौम भित्ति पर सारे संसार के मनीषियों का ध्यान केन्द्रित होता रहा है। नये वैज्ञानिक आविष्कार इसमें बहुत अधिक सहायक हुए हैं। एकदेशी कल्पनाएँ और उनकी पोषक परम्पराएँ टूट गई हैं; जहाँ नहीं टूटी हैं, वहाँ टूटने की ओर बढ़ रही हैं। काव्य को समझने का भौगोलिक दृष्टिकोण जो उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपियन पण्डितों में एक बार अत्यधिक प्राधान्य लाभ कर गया था, आज बुरी तरह गलत साबित हुआ है। यद्यपि भारतवर्ष के सद्यः प्रबुद्ध समालोचक अब भी इस व्याख्या का स्वप्न देखते रहते हैं—विशेषकर धार्मिक क्षेत्रों में—तथापि वह अपनी गतिशीलता खो चुकी है। इस दृष्टि से संसार के इतिहास को देखनेवालों ने मनुष्य के काव्य नाटकादि ललित-कलाओं से लेकर आचार विचार-आहार-निद्रा आदि क्रियाओं तक को देश विशेष की भौगोलिक परिस्थिति की उपज बताया था। भारतवर्ष जैसे उष्ण-कटिबन्ध देश में रहनेवाले आदमी स्वभावतः ही आलसी, केवल कल्पनाशील, कामचोर और परलोकप्रवण होंगे; पर साइबेरिया

में रहनेवाले का जीवन प्रकृति से लड़ाई करने में बीतेगा। उसके सामने वास्तविकताएँ इतना कठोर रूप लेकर उपस्थित होंगी कि वह कल्पना-विहार का अवकाश ही नहीं पा सकेगा। उसका साहित्य भी वैसा ही होगा। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भौगोलिक कारण जाति को विशेष रूप देने में बहुत कुछ कारण बन जाते हैं, पर यही सब कुछ नहीं है। भारतवर्ष में इस दृष्टि से देखने का सर्वाधिक विकृत रूप साम्प्रदायिक सभामंचों के उपदेशकों के मुख से सुनाई देता है। जब वे भारतवर्ष की सती-साध्वियों में, यहाँ की धर्मप्राण जनता में, यहाँ के धर्म पर कुर्बान होनेवाले धर्मवीरों में कुछ ऐसी विशेषता बताया करते हैं, जो यहीं है और कहीं हो ही नहीं सकती। इस दृष्टिकोण से जिन्होंने भी दुनिया देखी है, उन्होंने मनुष्य की अपेक्षा उसकी रूढ़ियों को अधिक देखा है। अब जब कि रूढ़ियाँ टूटने लगी हैं, भारत की सती-साध्वियों में कोई ऐसी विशेषता नहीं दीखती जो यूरोप की सती-साध्वियों में न हो। यहाँ की धर्मप्राण जनता कभी भी ऐसी हड़ताल नहीं करती, जो रूस या इङ्गलैंड के कारखाने में काम करनेवाली जनता ने न की हो।

रीतिकाल की रूढ़ियाँ जब बीसवीं शताब्दी के कवियों के अज्ञान, उपेक्षा और विरोध के कारण टूट गईं, तो हिन्दी में भी अँग्रेजी के 'रोमांटिक' कवियों का स्वर सुनाई देने लगा। असहयोग आन्दोलन के बाद यह उत्तरोत्तर साफ होता गया। इन कवियों ने बाह्य जगत् को अपने अन्तर के योग से उपलब्ध किया;

अपनी रुचि, कल्पना और सुख-दुःख में गूंथकर संसार को देखा; हिन्दी-कविता में सैकड़ों वर्ष से जिस वैयक्तिकता (Individuality) का प्रवेश नहीं हुआ था—जो भौगोलिक व्याख्या के अनुसार भारतीय मनीषी की विशेषता होनी चाहिये थी—वह एक ही धक्के में दरवाजा तोड़कर सामने आ खड़ी हुई। पिछले पन्द्रह वर्षों में भारतीय कवि की वैयक्तिकता ही प्रधान प्रतिपाद्य काव्य-सामग्री रही है। पर लक्षणों से जान पड़ता है कि उसके भी दिन गिने जा चुके हैं। अब तक कवि चाहे कल्पना के द्वारा इस जगत् की विसदृशताओं से मुक्त एक मनोहर जगत् की सृष्टि कर रहा हो, या चिंता द्वारा किसी अज्ञात रहस्य के भीतर प्रवेश करने की चेष्टा कर रहा हो, या अपनी अनुभूति के बल पर पाठक के वासनान्तर्विलीन मनोभावों को उत्तेजित कर रहा हो,—सर्वत्र उसकी वैयक्तिकता ही प्रधान हो उठती रही है। अत्यन्त आधुनिक कवि इस भावुकता को पसन्द नहीं करता। वह वस्तु को आत्म-निरपेक्ष भाव से देखने को ही सच्चा देखना मानता है। यह बात उसके निकट सत्य नहीं है कि वस्तु को उसने कैसा देखा, बल्कि यह कि वस्तु उसके बिना भी वैसी है। इस वैज्ञानिक चित्त-वृत्ति का प्रधान आनन्द कौतूहल में है, उत्सुकता में है, आत्मीयता में नहीं। और जैसा कि इस विषय के पण्डितों ने बताया है, विश्व को व्यक्तिगत आसक्त भाव से न देखकर तद्गत और अनासक्त भाव से देखना ही आधुनिक दृष्टिकोण से जगत् को देखने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस दृष्टि का अधिक विनियोग आर्थिक

परिस्थिति को समझने में किया गया है, या यों भी कहा जा सकता है कि समाज की वर्त्तमान परिस्थिति को आर्थिक दृष्टि-कोण से देखने का प्रयत्न किया गया है, तथापि यही उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। हमारी विचार-धारा की वास्तविक नवीनता इस बात में नहीं है कि हमने संसार को व्यक्तिगत रुचि-अरुचि की दृष्टि से देखा है या आर्थिक दृष्टि से—वस्तुतः व्यक्तिगत दृष्टि और आर्थिक दृष्टि का विरोध नहीं भी हो सकता है—बल्कि यह कि हमने संसार को अपने सत्-असत् के संस्कारों की दृष्टि से नहीं, बल्कि इन संस्कारों से मुक्त बुद्धि के द्वारा देखने का प्रयास किया है। दोनों का अन्तर दोनों दृष्टिकोणों के विकास से समझा जा सकता है।

यह मानने में कोई संकोच नहीं होना चाहिये कि हमारी आधुनिक दृष्टि-भंगी यूरोपियन संसर्ग का फल है। इसके पहले हमारी दुनिया एक प्रकार से तय हो चुकी थी। हमारी सत्-असत् सम्बन्धी धारणाएँ हमेशा के लिये मानों स्थिर हो चुकी थीं। यूरोप में भी ऐसा ही एक युग था। परन्तु वैज्ञानिक आविष्कारों ने वहाँ के सोचनेवाले आदमियों के मस्तिष्क में एक प्रकार की अशान्ति ला दी। किसी ने कहा है कि ज्योतिष का यह आविष्कार कि पृथ्वी समस्त ग्रह-नक्षत्र-मंडल के केन्द्र में नहीं है, यूरोपियन मस्तिष्क के ऊपर सबसे पहली और सबसे जोरदार चोट थी। उसकी समस्त धार्मिक और आध्यात्मिक कल्पना, सारा पौराणिक विश्वास, समस्त रूढ़ियां इस चोट से

तिलमिला गई। विज्ञान प्रसारित होता गया, धर्मविश्वास संकुचित। प्रत्येक वैज्ञानिक आविष्कार अठारहवीं शताब्दी में ईश्वर और धर्म को पीछे धकेलता गया, अन्त में उन्नीसवीं शताब्दी में ये दोनों वस्तुएँ—'कहिय तो भिन्न-न-भिन्न—' सम्पूर्णतया पृष्ठ-भूमि में आ गईं। पर मनुष्य अपने आप पर अत्यधिक विश्वास-परायण हो गया। उन्नीसवीं शताब्दी जिस प्रकार नास्तिकता-प्रधान युग है, उसी प्रकार आत्म-विश्वास-परायण भी। इस काल में सारे संसार में आदर्शवादियों का प्राधान्य था। आज भी जहाँ कहीं बड़े-बड़े आदर्शवादी दीख रहे हैं, वे उसी शताब्दी के भग्नावशेष हैं। इन आदर्शवादियों ने संसार की वास्तविकता की तरफ नहीं ध्यान दिया, बल्कि अपना सारा ध्यान एक आदर्श दुनिया को गढ़ने में केन्द्रित रखा। जहाँ मनुष्य क्षुद्र स्वार्थ का शिकार न होकर सेवा का विधाता होगा, जहाँ धर्म मनुष्य का मार्ग-दर्शक न होकर मनुष्य द्वारा परिचालित होगा, जहाँ का सबसे बड़ा सत्य मनुष्य है। इस आदर्श के उन्नयन के साथ ही साथ आत्म-सापेक्ष दृष्टि अपने आप अनजान में ही, प्राधान्य लाभ करती गई। अपनी भावनाओं के रंग में दुनिया को रंगकर देखने का अभ्यास बढ़ता गया। हिन्दी का वैयक्तिकता-प्रधान साहित्य उसीका अन्तिम प्ररोह था। पहले वह समाज-सुधार के क्षेत्र में दिखाई दिया और बाद में उसने अन्यान्य क्षेत्रों को भी बुरी तरह से आच्छादित कर लिया। न जाने किस अमूलदर्शी ने कविता में उसका नाम छायावाद चला दिया!

परन्तु विचार की दुनिया में एक बार जो अशान्ति घुस गई थी, वह फिर भी अशान्ति बनी रही। वैज्ञानिक अग्रगति ने बेचैनी बढ़ाने का ही कार्य किया। जीवन को देखने के दृष्टिकोण में फिर जबर्दस्त परिवर्त्तन हुआ। मार्क्स और फ्रायड ने समाज और व्यक्ति को देखने का नया चश्मा दिया। समाज का जो अंश सर्वाधिक उपेक्षित रहा यह तेजी से प्रधान स्थान प्राप्त करता गया। व्यक्ति को समझने के लिये भी उसके चेतन मन की अपेक्षा अवचेतन मन की प्रधानता स्थापित हो गई। आदर्शवाद को इन दोनों बातों से चोट पहुँची। फ्रायड ने कहा है कि मनुष्य वस्तुतः वैसा नहीं है जैसा कि वह स्पष्ट ही दीख रहा है, प्रत्युत् वह वैसा है जैसा कि अपने को चेष्टापूर्वक नहीं दिखाना चाह रहा। चेतन के द्वारा नहीं, अवचेतन के द्वारा मनुष्य को पहचाना जा सकता है। इस प्रकार मनुष्य के समस्त काव्य, समस्त कला, समस्त धर्माचरण एक नये रूप में प्रकट हुए। हम दुनिया को जैसा देख रहे हैं, जितने सदाचार हैं, जितने क़ायदे-कानून हैं, जो कुछ नैतिकता-विधान हैं, सब वस्तुतः वैसे नहीं हैं। मार्क्स ने कहा कि इन विधानों का कारण कोई वास्तव सत्य नहीं है वल्कि आर्थिक परिस्थिति है। दोनों दृष्टियों से आपाततः साधु दृश्यमान आदर्शवाद थोथा ही दीखने लगा। इस प्रकार मानवीय चिन्ता दूसरी बार अपने संस्कारों को झाड़कर देखने का प्रयास करने लगी। काव्य को, समाज को, धर्म को, राजनीति को—सबको उसने तद्गत औ

अनासक्त भाव से देखने का प्रयास किया। पहली चिन्ता में व्यक्ति प्रधान था, दूसरी में दृश्य प्रधान हो गया। पहली का दृश्य द्रष्टा के मन से विमुक्त होकर सामने जाता था, दूसरी का द्रष्टा दृश्य के पीछे छिप जाता है। यही नया दृष्टिकोण है। इस दृष्टि से जैसा कि एक रूसी आलोचक ने हाल ही में कहा है, अब तक कलाकार की वैयक्तिकता के प्रकाशन में, रीति-ग्रन्थों में, निजी कल्पनाओं में और रूपहीन (abstract) चिन्ताओं में कला का बाँझपन ही प्रकट हुआ है। और जैसा कि मैंने अन्यत्र कहा था, दो कारणों से इस कविता की भाषा और शैली में भी परिवर्त्तन हुआ है। एक तो विषय को जब अनासक्त और तद्गत भाव से देखा जाता है, तब स्वभावतः ही भावुकता को स्थान नहीं रह जाता। ऐसी अवस्था में कवि वैज्ञानिक जैसी गद्यमय भाषा लिखता है। दूसरे विषय की नवीनता को सम्पूर्ण रूप से अनुभव कराने के लिये वह जान बूझकर ऐसी भाषा और शैली का व्यवहार करता है जो पाठक के मन को इस प्रकार झकझोर दे कि उस पर से प्राचीनता के संस्कार झड़ जायँ। वे ऐसी उपमाओं, ऐसे रूपकों और ऐसी वक्रोक्तियों का व्यवहार करते हैं जो केवल नवीन ही नहीं अद्भुत भी जँचे। ऐसे काव्य में मेंढ़क और कुकुरमुत्ते केवल इसलिये व्यवहृत हो सकते हैं कि पाठक के चित्त को जोर से झकझोर दें, यद्यपि उसका अन्तर्निहित तत्त्व यह भी हो सकता है कि समुद्र और सूर्य अपनी महत्ता में जितने सत्य हैं

उतने ही सत्य मेंढ़क और कुकुरमुत्ते भी हैं। जब तक द्रष्टा अपनी रुचि-अरुचि से सान कर दृष्टि को देखेगा तब तक वह इस महत्ता का अनुभव नहीं कर सकेगा।

परन्तु इस दृष्टिकोण का बहुत ही व्यापक प्रभाव स्वयं दृश्य या द्रष्टव्य पर पड़ा है। अब तक काव्य, साहित्य, नृत्य आदि ललित और धर्मात्मक कलाएँ अपने आप में अध्येतव्य थीं। अन्यान्य ज्ञान-विज्ञान के साधन से हम इन्हें समझने का प्रयत्न करते थे। अब समझा जाने लगा है कि वस्तुतः ये स्वयं अध्येतव्य विषय नहीं है, ये साध्य भी नहीं हैं, ये साधन हैं। इनके द्वारा हम किसी और को समझ सकते हैं। पदार्थ-विज्ञान और भूगर्भ-विद्या की भाँति ये भी अपने आपे में सम्पूर्ण नहीं हैं। वह साध्य वस्तु क्या है, जिसकी साधना के लिये काव्य, नाटक और नृत्य-चित्र-मूर्ति-कलाएँ साधन हैं। वह जीवन है। जीवन समझने के लिए ही यह सारा टंटा है। जीवन जिसकी उद्दाम लहरें नाना स्तरों में प्रवाहित होकर किसी अज्ञात दिशा की ओर भागी जा रही हैं। 'अपारे काव्य-संसारे' का प्रजापति कवि उन सैकड़ों स्तरों में से एक स्तर है, जिसके रूप में जीवन-महासमुद्र की तरंगें प्रकट हो रही हैं। उससे हम समुद्र की गम्भीरता और उसके विस्तार की खोज पा सकते हैं, वह स्वयं ज्ञातव्य, गाम्भीर्य या विस्तार नहीं है। विश्व उस प्रकार गठित नहीं हो रहा है, जैसा कवि को रुचता है बल्कि विश्व को जैसा रुचता है वह वैसा ही उसके भीतर प्रतिफलित हो रहा है।

साहित्य-निर्माण का लक्ष्य

आज चारों ओर से अन्नाभाव, अकाल, महामारी और युद्ध-विग्रह की खबरें आ रही हैं। इन भयंकर क्लेशकर समाचारों को हमने इतना सुना है कि अब संवेदन भी भोथा हो गया है। अब हम पाँच लाख मनुष्यों की मृत्यु के समाचारों को इस प्रकार सुनने लगे हैं मानों यह कोई अत्यन्त मामूली-भी बात हो। बारबार आघात खाने के बाद हमारे संवेदन के सुकुमार तंतु जड़-से हो गये हैं। प्रतिदिन केवल मृत्यु, केवल हाहाकार, केवल भूख की मार सुनाना न जाने किस पुराकृत पाप का परिणाम है। इन समाचारों और घटनाओं की रेलपेल में एक नया समाचार जोड़ भी दिया तो विशेष लाभ नहीं, न जोड़ा गया तो भी कोई हानि नहीं। इसलिये नई बात सुनाने का न तो समय है और न प्रयोजन। परन्तु पुरानी बातों का भी महत्त्व है। जिस दुष्काल में हम वास कर रहे हैं उसमें वर्तमान ही सबसे महत्त्व-पूर्ण काल है। हमारी उलझी हुई क्लान्त दृष्टि के सामने जो कुछ पड़ा है उसे भेद करके न तो अतीत की ओर जाने का अवकाश पाती है और न भविष्य की ओर बढ़ने की शक्ति। फिर भी यह सत्य है कि आज जो कुछ हो रहा है उसका प्रभाव भी आगामी काल पर अवश्य पड़ेगा। हमारा वर्तमान निश्चय ही बहुत जटिल, और कठोर है परन्तु कहीं न कहीं बैठकर हमें इस पर विचार करना ही

होगा कि क्यों हम ऐसे दुर्भाग्य के शिकार हो रहे हैं। विधाता के नियम बड़े कठोर हैं। पाप का फल भोगना ही पड़ता है। अधर्म किसी को बड़ी देर तक फलता-फूलता नहीं रहने देता। शास्त्रकार ने बताया है कि अधर्म से थोड़ी देर तक आदमी फलता-फूलता है, फिर कुछ सुख भी भोगता है और थोड़ी देर के लिये अपने शत्रुओं को दबा भी देता है पर अन्त में जड़-मूल के साथ नष्ट हो जाता है—

अधर्मेणैधते तष्टावत् ततो भद्राणि पश्यति
ततः सपत्नाञ्जयति समूलस्तु विनश्यति।

अपनी आँखों के सामने मदगर्वित राष्ट्रनायकों का पतन देख रहे हैं। निरीह जनता के रक्त से लथपथ चरणों का भागना इस वीभत्स हाहाकार के बीच भी कौतुक उत्पन्न किए बिना नहीं रहता। समूची मनुष्यता किसी भारी पाप के प्रायश्चित्त में लगी है। आज यदि हम स्वीकार करते हैं कि हम कष्ट में हैं तो हमें यह भी मानना पड़ेगा, विधाता के निष्ठुर नियमों का प्रहार हमारे ऊपर हो रहा है। हमें धीरभाव से अपने पुराने कार्यों का अध्ययन करना होगा। दूसरों पर दोषारोप करने के पहले हमें अपनी ओर भी देख लेना चाहिये।

मैं समझता हूं साहित्य-परिषदें ऐसी ही जगह हैं जहां हम अपने भूत और भविष्य को सोचने की दृष्टि अपेक्षाकृत अधिक सफल रूप में पाएंगे। मेरा अपना विचार यह है कि साहित्य कोई संकीर्ण बुद्धि-विलास नहीं है। वह मनुष्य के जीवन के सब-

कुछ को लेकर ही बनता है। मनुष्य आज हाहाकार के भीतर निरन्न-निर्वस्त्र बना हुआ त्राहि-त्राहि की पुकार कर रहा है। इस समय साहित्यकार का प्रथम कर्तव्य है उसकी व्यथा का ठीक-ठीक निदान करना और ऐसा प्रयत्न करना जिससे मनुष्य इस वर्तमान दुर्गति के पंक से उद्धार भी पा सके और भविष्य में अधिक शांति से रह भी सके। साहित्य की सब से बड़ी समस्या मानवजीवन है। कविवर रवीन्द्रनाथ ने एक पौराणिक आख्यान को लेकर एक कविता लिखी है। वाल्मीकि को क्रौञ्च-मिथुन के कष्ट से आम्नाव से भिन्न नवीन छन्द रूप सरस्वती का साक्षात्कार हुआ था। यह कहानी सब की जानी हुई है। वाल्मीकि छन्द तो पा गये थे पर उन्हें विषय नहीं सूझ रहा था। वे उन्मत्त की भाँति घूम रहे थे। छंद जैसा अमूल्य धन पाकर उसके उपयुक्त विषय न पा सकना कितने दुःख की बात है। मैं समझता हूँ आज ऐसे अनेक तरुण साहित्यिक होंगे जिन्हें छन्द तो मिल गया है पर विषय नहीं मिला है। वे उन्मत्त घूम रहे हैं कि नहीं, पता नहीं, पर उन्हें उपयुक्त विषय की खोज में पागल हो जाना चाहिये था! वाल्मीकि हो गये थे। इसी समय नारद मुनि से उनका साक्षात्कार हुआ। नारद ने बताया कि हे ऋषे, तुमने जो अमूल्य छंद पाया है उसको यों ही व्यर्थ मत नष्ट होने दो उससे कुछ काम कर जाओ। वाल्मीकि हैरान। क्या करूं इस छंद को लेकर। नारद ने बताया कि अब तक देवताओं को मनुष्य बनाया जाता रहा है, तुम मनुष्य को देवता बनाओ! मनुष्य को देवता बनाना ही

छंद का काम है। वाल्मीकि ने वैसा ही किया था। मैं नहीं जानता कि इस समय ऐसा छान्दस उन्माद किसी युवक में है या नहीं, हो तो उसे नारद का संदेश ध्यान से सुनना चाहिये। साहित्य का सब से बड़ा उद्देश्य मनुष्य को देवता बनाना है। मनुष्य को देवता बनाने के उद्देश्य से ही हमें काम करना है। हमें उसकी प्रत्येक समस्या के सम्मुखीन होना होगा। साहित्य कोई वाग्विलास का संकीर्ण क्षेत्र नहीं है। मैं इतना कहना भूल रहा हूँ कि छन्द पाकर एक प्रकार का उन्माद स्पृहणीय है, उसी उन्माद से वाल्मीकि ग्रस्त थे। वह उन्माद है उपयुक्त विषय पाने की छट-पटाहट और उपयुक्त विषय है मानव-जीवन को उन्नत करना और देवोपम बना देना। पर एक उन्माद और भी है। शास्त्रकारों ने उसकी भी दवा बता दी है। यह उन्माद स्वयं छंद के गढ़ने का है। कोई विषय नहीं है, या अत्यन्त मामूली बात है उसी पर कविजी छंद का डंड-बैठक कर रहे हैं। शब्दों को ऐसा रगेदते हैं कि उनकी जान ही निकल जाती है। वस्तुतः वातग्रस्त लोग इस प्रकार के उन्माद के शिकार हो जाते हैं। एक ऐसे ही कवि से किसी ने पूछा कि 'भई, तू कविता करता है ? तेरे क्या कोई दोस्त मित्र नहीं है जो तेरे बढ़े हुए बाई के रोग को समझें और तुझे इस काम से अलग रखने का उपाय करें। भई, तू किसी घर के खिड़की-दर-वाजे बंदकर उसी में चुपचाप पड़ा रह और गाय का घी पिया कर इस बात का ध्यान रख कि किसी तरफ़ से वायु न लगने पावे। जिनका वात-रोग बढ़ जाता है वे ही तेरे जैसे कवि हो जाते हैं—

काव्यं करोषि किमु ते सुहृदो न सन्ति
ये त्वामुदीर्णपवनं न निवारयन्ति।
गव्यं घृतं पिब निवात-गृहं प्रविश्य
वाताधिका हि पुरुषाः कवयो भवन्ति।

मैं आशा करता हूँ कि आज का युवक समुदाय इतना समझदार अवश्य है कि वह केवल छंद के लिये छंद नहीं लिखता और यह जानता है कि मनुष्य को हर तरह से उन्नत बनाना, उसे अज्ञान, मोह, कुसंस्कार और परमुखापेक्षिता से बचाना ही उसका प्रथम कर्तव्य है, गद्य, पद्य, कथा, कहानी, नाटक चित्र, मूर्ति इत्यादि उसी महान उद्देश्य के साधनमात्र हैं। साहित्य इसलिये बड़ा नहीं है कि उसमें गद्य, पद्य, छन्द, कथा, कहानी होती है बल्कि इसलिये बड़ा है कि मनुष्य को उन्नत और विशाल बनाता है, उसको मोह और कुसंस्कार से मुक्त करता है, उसे धीर और परदुःखकातर बनाता है। तुलसीदास ने ऐसा ही साहित्य लिखा है, कालिदास ने ऐसा ही साहित्य लिखा है, और हमारा भी लक्ष्य ऐसा ही साहित्य होना चाहिये। साहित्यकार अपना विषय मनुष्य के संपूर्ण जीवन को बनाता है। वह विधाता की भांति सजीव सृष्टि करता है। पुराने पण्डित ने बड़े अफसोस के साथ कहा था कि आज अचानक मिले हुए दो चार पदों को जोड़ बटोर कर लोग कवि बन जाते हैं और बड़े बड़े इन कवियों की तुलना में अपने को बैठाने लगते हैं जो सजीव सृष्टि करके मानव-जीवन को विशाल और उन्नत बनाते हैं। यदि

यही हालत रही तो कौन जाने इस कुटिल कलिकाल में आज या कल कब वह दिन आ जायगा जब घड़ा बनानेवाला कुम्हार त्रिभुवन-विधाता से कलह कर बैठेगा !

हठादाकृष्टाना कतिपयपदाना रचयिता
जनः स्पर्द्धालुश्चेदहह कविना वश्यवचसा
भवेदद्यश्वो वा किमिह बहुना पापिनि कलौ
घटाना निर्मातुस्त्रिभुवनविधातुश्च कलहः ।

आज सुजला-सुफला बंगभूमि क्षुधा-जर्जर नरकंकालों से भर गई है। अट्टालिकाओं की नगरी के प्रत्येक राजमार्ग बुभुक्षितों के मरे और अधमरे शरीरों से भरे हैं, बच्चे माताओं की गोद में दम तोड़ देते हैं और मरी हुई जननी की छाती पर अधमरे शिशु रेंगते दिखाई देते हैं। समूचा बंगाल आज अन्नाभाव से मरने की तयारी में है। दरिद्रता भारतवर्ष के किसी प्रदेश में कम नहीं है, पर बंगाल आज सबसे अधिक दुखी है। जो निरन्न-निर्वस्त्र स्त्री-पुरुष आज कलकत्ते की सड़कों पर मर रहे हैं वे भिखमंगे नहीं हैं, वे मिहनत-मजूरी करके कमाने-खानेवाले ईमानदार गृहस्थ हैं। आज उन्हें मजदूरी नहीं मिलती और यदि मजदूरी मिल भी जाती है तो उसके बदले में अन्न नहीं मिल रहा है। उस क्षुधाकातर जनमण्डली की सहायता करना मनुष्यता का प्रथम कर्त्तव्य है। इस समारोह के समय इस नग्न सत्य को आपको सुनाए विना मैं नहीं रह सकता कि इस समय लाख-लाख ईमानदार गृहस्थों का प्राण बचाना हमारी

सबसे आवश्यक कर्त्तव्य हो गया है। यह कार्य राष्ट्रनिर्माण, साहित्य-सृष्टि या आध्यात्मिक चर्चा से बड़ी है ऐसी बात तो मैं नहीं कहता पर इन सबसे अधिक जरूरी अवश्य हो गई है। आप; आशा है, इस बात में मुझसे एकमत होंगे और यथाशक्ति मानवता के सबसे प्रथम कर्त्तव्य की बात याद रखेंगे।

मैं जब इस अकाल की बात सोचता हूँ तो हैरानी होती है। कहा जाता है कि विज्ञान ने इतनी उन्नति कर ली है कि अब सारी दुनियां एक बड़े ढेले के बराबर हो गई है। यातायात के साधन इतने प्रचुर और प्रबल हैं कि संसार में अकाल होने की कोई आशंका नहीं हो सकती। ये बातें सत्य हैं परन्तु इन सब से बड़ा सत्य यह है कि अकाल हमारे सिर पर है। जरूर कहीं मूल में ही गलती रह गई है। विज्ञान के प्रथम उन्मेष के समय यूरोप के मनीषियों ने बड़ी-बड़ी आशाएँ लगाई थीं; यूटोपिया या रामराज्य के बहुत सपने देखे थे परन्तु जैसे-जैसे विज्ञान आगे बढ़ता गया वैसे-वैसे मनुष्यता श्रीहीन होती गई है। कुछ थोड़े से लोगों ने समृद्ध जनपदों को चूसकर उन्हें कंकाल-शेषकरदिया है, महामारियों, युद्धों और उन्मत्त वर्णद्वेष ने मनुष्य-समाज में विष भर दिया है, विज्ञान आज मनुष्य का अमोघ मारक अस्त्र सिद्ध हो रहा है। आज आप अकाल-पीड़ित भाइयों की सहायता अवश्य करें पर यह भूल न जायँ कि यह सामयिक उपचार मात्र है, रोग की औषधि नहीं है। आप लोगों का यह समाज बुद्धिजीवियों और बुद्धिवृत्तिक लोगों का है। निश्चय ही आप

सामयिक उपचार से सन्तुष्ट नहीं होंगे। आप अकाल के पुनरावर्ती महारोग का मूल कारण अनुसंधान करना चाहेंगे, लक्षणों को रोग मानकर आप चुप वैठनेवाले नहीं हैं। विज्ञान निश्चयही दोषी नहीं है, उसका प्रयोग गलत ढंग से हो रहा है। औपध भी अनुचित स्थान पर और अनुचित ढंग से प्रयुक्त होने पर विप हो जाता है—औषधं युक्तमस्थाने गरलं ननु जायते। इस देश के विचारशील लोगों के लिये इस महारोग का कारण खोजने का समय आ गया है। हमें साहस के साथ समस्या का सामना करना है, हमारी साहित्यिक परिषदें, हमारे तरुण साहित्यकार और हमारे वृद्ध मनोषी यदि आज भी उस मूल कारण को मुस्तैदी से खोजने का संकल्प नहीं करेंगे तो उन्हें संकल्प करने कासमय फिर नहीं मिलेगा। हमारे साहित्य से, समाज से, मन से, हृदय से उन सभी बातों को दूर हो जाना चाहिये जो हमें इस विकट समस्या के सम्मुखीन होने में बाधा पहुँचा रही हों। ऐसी नहीं हुआ तो निश्चित जानिए, इससे भी भयकर अकाल आनेवाले हैं, इससे भी कठोर दुर्गति हमारे भाग्य में है।

शक्तिशाली के पास अगर उदार हृदय और विशाल चरित्र-वल न हो तो उसकी शक्ति संसार को नष्टभ्रष्ट करने में ही लगती है। राम और रावण में यही अन्तर था कि यद्यपि शक्ति दोनों में ही थी तो भी राम का हृदय उदार था और चारित्र्य-वल वहुत विशाल था जव कि रावण में वे दोनों गुण नहीं थे। एक ने रामराज्य की स्थापना की जो आज भी हमें उत्साह और वल

देता है और दूसरे ने रावण-राज्य स्थापित किया था जिसके स्मृतिमात्र से मनुष्यता काँप उठती है। विज्ञान एक बड़ी भारी शक्ति है, आज तक मनुष्य ने इतने बड़े शक्तिशाली साधन का सहारा नहीं लिया था। जिसके हाथ में यह महान् अस्त्र है उसमें भी उदारता और चरित्रबल होना चाहिये था। परिणाम देखकर हम निस्सन्दिग्ध रूप से कह सकते हैं कि ये दोनों बातें उन लोगों के पास नहीं हैं जो इस महान् शक्तिशाली अस्त्र का प्रयोग कर रहे हैं। अगर उनमें थोड़ी-सी भी उदारता और चरित्रबल होता तो संसार इतना भयंकर नरककुण्ड न बन जाता। पेड़ की पहचान फल से होती है। फल निश्चय ही जहरीला है और इसीलिए जिस पेड़ पर वह लगा है उसे हम 'अमृत-कल्प-तरु' नहीं कह सकते। हमें धीर भाव से विवेचना करनी होगी कि क्यों शक्तिशाली लोगों का हृदय-परिवर्तन नहीं हुआ? साथ ही हमें यह भी विचार करना होगा कि साहित्य के वे स्रष्टा जो विश्व को सरस, स्निग्ध और उदार बनाने का कारबार करते रहे हैं वे क्या अपना कर्तव्य-पालन कर सके हैं। क्या साहित्यकारों ने विज्ञान की बढ़ती हुई शक्ति को देखकर उसके साथ सामंजस्य रखते हुए कदम बढ़ाया है। मेरे चित्त में ये प्रश्न बराबर उठते रहते हैं। मैं जानता हूँ कि संसार में ऐसे साहित्यकारों की कमी नहीं है जिन्होंने पुकार-पुकार कहा है कि विज्ञान के द्वारा प्राप्त शक्ति के साथ मनुष्य की भीतरी शक्तियों के उद्बोधन का सामंजस्य होना चाहिये, जिन्होंने संकीर्ण राष्ट्रीयता और मोहग्रस्त

जातिप्रेम को संसार का अभिनव अभिशाप बताया है, जिन्होंने अंधाधुंध बढ़नेवाली अनियंत्रित उत्पादन-व्यवस्था को नाशकारी बताया है परन्तु मैं यह भी जानता हूँ कि, उनकी आवाज़ ऊंचे सिंहासनों तक नहीं पहुँची है, उनकी वाणी को शक्तिमदगर्वितों ने उपहास का पात्र समझा है। महापुरुषों ने इसकी परवा नहीं की है। हमारे देश के प्रमुख साहित्यकार स्वर्गीय कविवर रवींद्रनाथ ठाकुर ऐसी सतर्कवाणी उच्चारण करनेवालों में अग्रणी थे। उनकी तथा उनके समान अन्यान्य मनीषियों की सतर्कवाणी समय रहते नहीं सुनी गई परंतु उसका याथार्थ्य आज पदे-पदे अनुभूत हो रहा है। इस प्रकार देखा जाता है कि साहित्यकारों की बात सब समय अपना उद्देश्य सिद्ध करने में सफल नहीं हुई है। सत्यों का सत्य यह है कि झूठी, हानिकारक और विषेली बातों के प्रचार करने में संसार का शक्तिमदमत्त जातियों ने जितना अधिक प्रयत्न किया है उसका एक हजारवाँ हिस्सा भी स्वस्थ और उन्नत बनानेवाले साहित्य के प्रचार में नहीं हुआ है। सारी समाज-व्यवस्था कुछ इतनी सड़ी हुई और विषैली हो गई है कि उत्तम साहित्य के प्रचार में सौ सौ बाधाएं अपने आप आ उपस्थित होती हैं। इसीलिए आज साहित्यकार के सामने प्रश्न केवल अच्छी बातें सुनाने का ही नहीं है उस सड़ी हुई समाज-व्यवस्था को बदल देने का भी है जो अच्छी बातों को सुनाने में बाधक है। चिलम जब नहीं जल रही है तो क्यों न उसे उलटकर फिर से साजा जाय?

इसीलिये साहित्यकार आज केवल कल्पलोक का प्राणी बन

कर नहीं रह सकता। दीर्घ अनुभव यह बताता है कि उत्तम सृष्टि करना ही सबसे प्रधान कर्त्तव्य नहीं है। सम्पूर्ण समाज को इस प्रकार सचेतन बना देना भी परम आवश्यक है जो उस उत्तम रचना को अपने जीवन में उतार सके। साहित्यिक सभाएं यह कार्य कर सकती हैं। वे सम्पूर्ण जन-समाज को उत्तम साहित्य सुनाने की माध्यम बन सकती हैं। इस विशाल देश में शिक्षा की मात्रा बहुत ही कम है। यहां सब कुछ नये सिरे से करना है, यहां के साहित्यिक की जिम्मेदारी कहीं अधिक है। फिर हमने जिस भाषा के साहित्य-भंडार को भरने का व्रत लिया है उसका महत्त्व और भी अधिक है। आज उसे संपूर्ण ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनाना है। हमलोग जब हिन्दी की सेवा करने की बात कहते हैं तो प्रायः भूल जाते हैं कि यह लाक्षणिक प्रयोग है। हिन्दी की सेवा का अर्थ है उस मानव-समाज की सेवा जिसका माध्यम हिंदी है। मनुष्य ही बड़ी चीज है। भाषा उसी की सेवा के लिए है। साहित्य-सृष्टि का भी यही अर्थ है। जो साहित्य अपने आपके लिए ही लिखा जाता है उसकी क्या कीमत है, मैं नहीं जानता। परन्तु जो साहित्य मनुष्य समाज को अज्ञान, रोग, शोक, दारिद्र्य और परमुखपेक्षिता से बचाकर उसमें आत्मबल का संचार करता है वह निश्चय ही अक्षय निधि है। उसी महत्वपूर्ण साहित्य को हम अपनी भाषा में ले आना चाहते हैं। मैं मनुष्य की अतुलनीय शक्ति पर विश्वास रखता हूँ, और उसी विश्वास के बल पर यह आशा करता हूँ कि हम अपनी

भाषा और साहित्य के द्वारा इस विषम परिस्थिति को अवश्य बदल देंगे।

लोहे की गाड़ी पर बैठकर कई बार मैं गंगा और शोण नद से धौत प्रदेश को पार कर गया हूँ, सब समय चित्त की अवस्था एक ही जैसी नहीं रही है। कभी उल्लास और कभी अवसाद लेकर आया हूँ परन्तु सारी यात्रा में एक-न एक बार मुझे ऐसा जरूर लगा है कि मैं एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रदेश के भीतर से गुजर रहा हूं, मानों मेरे चारों ओर बिखरे हुए धूलिकण कुछ-न-कुछ ऐसा संदेश सुनाने को उत्सुक हैं जिन्हें सुनकर मैं आनन्द-विह्वल हो जाऊंगा। शोण नद को देखकर मेरा हृदय बराबर उल्लसित हुआ है। ऐसा एक भी अवसर नहीं आया है जब मैं सोन के पुल पर से गुजर रहा होऊं और मेरा चित्त एक अननुभूत औत्सुक्य से न भर उठा हो। मुझे इसका यथार्थ कारण नहीं मालूम। परन्तु कोई जननान्तर-सौहृद, कोई अज्ञात स्नेहबंध, कोई निगूढ़ औत्सुक्य मुझे अवश्य चंचल कर देता है। मुझे एक ही साथ कादम्बरी के वर्णित अनेकों चित्र याद आ जाते हैं। मेरा भटका हुआ चित्त उस मनोमुग्धकारी दृश्य को देखने के लिये व्याकुल हो उठता है जब कहीं इन प्रदेशों के पश्चिमी भाग में चंद्रमा पद्ममधु से रँगे हुए वृद्ध कलहंस की भांति आकाश-गंगा के पुलिन से पश्चिम जलधि की ओर उदास भाव से उतर जाता होगा और समस्त दिङ्मण्डल वृद्ध रंकु मृग की रोमराजि के समान पांडुर हो उठता होगा। फिर धीरे-धीरे हाथी के रक्त

से रंजित सिंह के सटाभार के या फिर लोहित वर्ण के लाक्षारस के सूत्रों के समान लाल सूर्य-किरणें आकाश रूपी वनभूमि से नक्षत्र रूपी फूलों को इस प्रकार झाड़ने लग जाती होंगी मानों पद्मराग मणि की शलाकाओं से बनी हुई हों। आहा! कैसा मधुर प्रभात होता होगा वह जब शिशिरबिंदुओं को वहन करता पद्म वन को प्रकम्पित करता, परिश्रान्त शवर रमणियों के स्वेद-बिंदु से सिंचा हुआ, कम्पमान पल्लवों और लतानिकुञ्जों को नृत्य की शिक्षा देता हुआ, प्रस्फुटित पद्मों का सौभाग्य आहरण करता हुआ मंद मंद संचारी प्राभातिक पवन बहने लगता होगा। बाण-भट्ट की अमर लेखनी को पार करने के बाद शोणतट का वह उन्मद पवन समस्त विश्व के सहृदयों का आस्वाद्य हो उठा है। मैं जब कभी इन प्रदेशों के भीतर से गुज़रता हुआ इस और इस जैसे अनेक दृश्यों की बात सोचता हूं तो अकारण उत्सुकता मुझे विह्वल बना देती है। क्यों यह दृश्य इतना मोहक हो गया है, क्यों यह समस्त विश्व की नितान्त अपनी चीज़ बन गया है। मेरा विश्वास है कि ऐसा इसलिए संभव हुआ है कि वह केवल प्रकृति के सौंदर्य-पट पर अंकित दृश्य मात्र नहीं है, वह मनुष्य के अतल हृदय-तीर्थ में स्नान करने के कारण अत्यंत पवित्र और महान् हो गया है। मनुष्य का हृदय वह पारस है जो झट लोहे को सोना बना देता है।

आज मनुष्य दुर्गति के उस बिंदु पर पहुँच गया है जो इतिहास का जाना हुआ नहीं है। सारा जगत हिंसा के उन्मत्त

निष्ठुर नृत्य से संत्रस्त और भीत है। और यह सब किसने किया है? स्वयं मनुष्य ने ही। वर्ड्सवर्थ ने व्यथित होकर कहा था—आदमी ने आदमी को क्या बना रखा है। पास और दूर, समुद्र के इस पार और उस पार, जहां देखिये, मनुष्य की दुर्गति का अवसान नहीं है। इस पुञ्जीभूत दुर्गति के भीतर आपने साहित्यिक उत्सव का आयोजन किया है। इसका अर्थ मेरी समझ में यह है कि इस विश्वव्यापी दुर्गति के आमने-सामने खड़े होने का साहस और संकल्प आप में है। मेरा पूर्ण विश्वास है कि किसी दिन यदि जगत् दुर्गति के इस दलदल से उद्धार पाने में समर्थ हुआ तो उस पुण्य कार्य के सबसे बड़े सहायक साहित्य-कार ही होंगे! वे ही जन-चित्त को उस घिनौने मनोभाव को समझा सकेंगे जो युद्धों, विद्वेषों और संघर्षों को खूराक जोगाया करता है, जो संकीर्ण स्वार्थ के कारण लाखों निरीह जीवों के सर्वनाश में उल्लास अनुभव करता है।

हिंदी के ऊपर यह उत्तरदायित्व और भी अधिक है। हिसाब लगाकर देखनेवालों ने बताया है कि यह संसार की सबसे अधिक बोली जानेवाली तीन चार भाषाओं में एक है। यह गर्व करने की अपेक्षा चिन्तित होने की बात अधिक है। कई करोड़ लोगों को मानसिक, बौद्धिक और आध्यात्मिक विचार तथा जीविका के साधन बनानेवाली भाषा में साहित्य की कमी बड़ी ही अनर्थकारी बात है। इस बात का सीधा-सा अर्थ यह है कि हिन्दी के साहित्यकार कई करोड़ जनसमूह की अग्रगति के लिए

जिम्मेदार हैं। वे अगर समय पर नहीं चेतते हैं तो विश्व की विचारशील जनता के सामने उन्हें अपराधी बनना पडेगा। हिंदी को यह उत्तरदायित्व विधाता की ओर से मिला है। समय रहते यदि हमने इस उत्तरदायित्व को नहीं संभाला तो कर्ण के वाणों के समान हमारा वरदान अभिशाप बन जायगा। हमें अभी से अपने को दुर्गत मानवता के बचाने के प्रयत्न में लगा देना चाहिये। साहित्य-निर्माण का यही एकमात्र उद्देश्य होना चाहिये।

यदि एक बार हम ठीक-ठीक अनुभव कर लें कि हमारा उद्देश्य क्या है तो हमें अपने छोटे मोटे विवादात्मक प्रश्नों को सुलझाने में विशेष कठिनाई नहीं पड़ेगी। आपलोग उन छोटे मोटे—या बड़े बड़े भी—अन्यायों से अवश्य क्षुब्ध होंगे जो आये दिन हिंदी के ऊपर अपनों और परायों द्वारा होते रहते हैं। आपके मन में उन लोगों के प्रति रोष का भाव होगा ही जो आँखों के होते हुए भी अन्धे बनकर हिन्दी के रूप को विकृत कर रहे हैं। लेकिन फिर एक बार मैं आपको याद दिला दूं कि हिन्दी को विकृत करना भी एक लाक्षणिक प्रयोग है। इसका यह अर्थ नहीं समझा जाना चाहिये कि हिंदी में अनुचित शब्दों का अनुचित ढंग से प्रयोग करके कोई उस भाषा को बिगाड़ता है। वस्तुतः बिगाड़ता यदि है तो उस जनसमूह को जिसकी भाषा हिंदी है। हिंदी में बहुत से दुर्बोध्य विदेशी शब्दों को ठूंसने से और विदेशी व्याकरण से उन्हें परिचालित करने से अहित किसका होता है? मेरा विचार है कि अहित उस जनसमूह का होता है जिसको उद्देश्य करके

वह भाषा सुनाई जाती है और अहित उस उद्देश्य का भी होता है जिसके लिए वह तरीका अख्तियार किया जाता है। हिन्दी का कोई क्या बिगाड़ लेगा। वह विरोधों और संघर्षों के भीतर से ही पली है। उसे जन्म के समय ही मार डालने की चेष्टा की गयी थी पर वह मरी नहीं। उसने किसी राजशक्ति की उंगली पकड़कर यात्रा नहीं त की है। वह अपने-आपकी शक्ति से महत्त्वपूर्ण आसन अधिकार करनेवाली शायद अद्वितीय भाषा है। मुझे ठीक-ठीक नहीं मालूम कि संसार में ऐसी कोई भाषा है या नहीं जिसके विकास में पद पद पर बाधा पहुँचाई हो और फिर भी जो अपार शक्ति-संचय कर सकी हो। संसार बहुत बड़ा-है उसकी बात न जानना ही अधिक स्वाभाविक है। पर मेरा अनुमान है कि भारतवर्ष में इतनी बाधा सहकर भी इतनी शक्ति संचय करनेवाली भाषा एकमात्र हिन्दी ही है। आज वह सैकड़ों प्लेटफार्मों से, कोड़ियों विद्यालयों से और अनेकानेक प्रेसों से नित्य मुखरित होनेवाली परम शक्तिशाली भाषा है। उसकी जड़ जनता के हृदय में है। वह किसी की कृपा-कोप से बनने-बिगड़नेवाली नहीं है। इस सिक्के पर न छापकर या उस स्टेशन से न बोलकर जो लोग उसे परास्त करना चाहते हैं वे खुरपी से पहाड़ खोदने का प्रयास करते हैं। मुझे पूरा विश्वास है कि हिन्दी को कमजोर करने की चेष्टा उन बुद्धिमान समझे जानेवाले मूर्ख लोगों की ओर से हो रही है जो इस मामूली बात को भी नहीं जानते कि भाषा का उद्देश्य परस्पर को ठीक से समझना है

और प्रचार करने की भाषा यदि ऐसी हुई जिसे जनता समझ ही न सके तो सबसे पहले वे अपना ही अहित करते हैं। आँख मूंद लेने से दुनिया में अन्धेरा नहीं हो जाता।

शायद आप लिपि के प्रश्न पर भी कुछ उद्विग्न होंगे। यदि हम उस बात को याद रखें जो अभी साहित्य-रचना के प्रसंग में हमने विचारा है तो इस प्रश्न का समाधान आसानी से हो जायगा। लिपि क्या है ? जनसाधारण का आपस में तै कर लिया हुआ ध्वनि-चिह्न। भारतवर्ष के सुदीर्घ जीवन में लगभग ढाई हजार वर्षों से लिपि का एक धारावाहिक इतिहास प्राप्त है। उसके पहले भी लिपि थी पर दुर्भाग्यवश कोई पुराना चिह्न हमें नहीं मिला है। आज से लगभग ६ हजार वर्ष पहले की लिपि का निदर्शन सिंध की घाटी में से उद्धार किया है पर वह अभी तक पढ़ा नहीं गया है और बीच में उसकी धारा सूख गयी है, ऐसा लगता है। इसीलिए मैंने जानबूझ कर उसका नाम लिपि के धारावाहिक इतिहास के प्रसंग में नहीं लिया। इस ढाई हजार वर्षों के सुदीर्घकाल में भारतवर्ष ने यद्यपि एक ही वर्णमाला का व्यवहार किया है पर लिपि-चिह्न बराबर बदलते रहे हैं। फिर तिब्बत से लङ्का तक और सिंधु देश से लेकर मलय देश, जव-द्वीप, सुमात्रा और श्याम देश तक उस वर्णमाला के लिपिचिह्न बहुत बदले हैं। संग्रह किया जाय तो इस दीर्घकाल और विस्तीर्ण देश में व्याप्त लिपिचिह्नों की एक विशाल वाहिनी तैयार हो जायगी। 'क' अक्षर के लिए कम से कम १०० चिह्न मिलेंगे जिनमें एक

कोड़ी से अधिक रूप तो आजकल छापे के सांचे में ही ढले मिलेंगे। पंडितों ने देखा है कि इन परिवर्तनों का कारण लिखने में सुभीता पाना रहा है। तालपत्र पर लिखनेवालों ने अलग ढंग अख्त्यार किया है लोहे की कलम से लिखनेवालों ने अलग। फल यह हुआ कि एक ही चिह्न दो तरह का हो गया है। ऐसे ही और भी बहुत से कारणों से मनुष्य ने धीरे-धीरे अपने चिह्न बदल लिए हैं। फिर एक और मजेदार बात यह रही है कि भिन्न-भिन्न भाषाओं ने अनावश्यक चिह्नों को छोड़ दिया है और आवश्यक चिह्न बना लिए हैं। दक्षिण की कई लिपियों में वर्गों के मध्यवर्ती दो या तीन अक्षर हैं ही नहीं। संस्कृत लिखने के लिये जब पंडितों को उस लिपि की आवश्यकता हुई तो उन्होंने अपने काम के चिह्न बना लिए। संस्कृत के लिए बना ली हुई इस लिपि का ग्रंथलिपि नाम दे दिया गया है। फिर तेलगु आदि भाषाओं में ह्रस्व, एकार, ओकार का व्यवहार है जो संस्कृत वर्णमाला में नहीं है; सो उन्होंने ये चिह्न बना लिए हैं। श्याम देश की लिपि देवनागरी का ही एक रूप है पर उसमें संयुक्तवर्ण हैं ही नहीं। उनकी भाषा में इसकी कोई जरूरत ही नहीं थी। तिब्बती में महाप्राण वर्ण नहीं और कई स्वरवर्ण नहीं है। तिब्बती लोगों ने यद्यपि अपनी वर्णमाला पुरानी देवनागरी को ही मान लिया है पर जो चिह्न उनकी भाषा मे आवश्यक नहीं थे उन्हें छोड़ दिया है फिर ऐसे भी नये चिह्न बना लिए हैं जो उनकी भाषा में आवश्यक थे। जब उनको संस्कृत लिखने की आवश्यकता होती है तो कुछ नये चिह्न

जोड़कर काम चला लेते हैं। इस प्रकार देवनागरी लिपि (या पुरानी ब्राह्मी लिपि) का मनोरञ्जक इतिहास बताता है कि आवश्यक चिह्नों का बना लेना, अनावश्यक चिह्नों को छोड़ देना और मनुष्य की सुविधा को देखकर चिह्नों में परिवर्तन कर लेना इस देश की चिराचरित प्रथा है। मनुष्य लिपि-चिह्नों से बड़ा है। मनुष्य को उन्नत बनाने के लिये ही लिपि-चिह्न बनाये गए हैं। यदि पाटियों तालपत्रों, भूर्जपत्रों और कपड़ों के उपादान-भेद से अंक्षरों में परिवर्तन हुए हैं तो टाइपराइटर प्रेस आदि के सुभीते के लिए जरूरत पड़ने पर लिपि-चिह्न क्यों नहीं बदले जा सकते? सही बात तो यह है कि इन सौ वर्षों में ही हमारे कई चिह्न बदल गए हैं। जो बात हमने अनजान में स्वीकार कर ली है उसे जान-बूझकर सोच-समझकर स्वीकार करने में बाधा कहां है?

देवनागरी लिपि की तुलना में कुछ लोगों ने रोमन का नाम लेना शुरू किया है। रोमन लिपि को आजकल बहुत समृद्ध कर लिया गया है। हिन्दी के हिमायती कभी-कभी भावावेश में आकर ऐसी बातें कह बैठते हैं जो सत्य नहीं हैं। उदाहरण के लिए वे कहते हैं कि संस्कृत के श्लोक रोमन में नहीं लिखे जा सकते या लिखे भी जायँ तो पढ़े नहीं जा सकते। यह बात गलत है। ऋग्वेद तक रोमन में छप चुका है और पाली की समस्त पुस्तकों के सर्वोत्तम संस्करण रोमन-लिपि में ही छपे हैं। अभ्यास करने पर उसे भी शुद्ध-शुद्ध पढ़ा जा सकता है। उसमें टाइप राइटर प्रेस आदि की सुविधाएं भी बहुत हैं। फिर यह युक्ति भी

उपस्थित की जाती है कि दुनिया में उसी का अधिक प्रचार है। आजकल दुनिया स्वेज नहर के उसी पार समाप्त हो जाती है। रोमन लिपि का प्रचार करने के लिए जो संगठित प्रयत्न हो रहे हैं उसके बावजूद भी ब्राह्मी लिपियों से निकली हुई लिपियों का संसार में जितना प्रचार है वह आज भी कम नहीं है। एक बार संसार के उस भूभाग पर दृष्टि दीजिये जो संसार का सबसे उपजाऊ प्रदेश है—शस्य के लिए भी और ज्ञान के लिए भी—तो आप देखेंगे कि ब्राह्मीलिपि आज भी संसार की महत्त्वपूर्ण लिपि है। तिब्बत से लंका तक और भारत से मलय तक विशाल जन-समूह के लिखने का माध्यम आज भी यही लिपि है। उसकी तुलना में और किसी लिपि का नाम नहीं लिया जा सकता। यह जरूर है कि इन लिपियों के अन्तर को मिटाकर एकीकरण का कोई प्रयत्न नहीं किया गया है और इनके लिखनेवाले राजनीतिक और अन्याय दृष्टियों से क्षीण हैं इसलिए इस विशाल जनसमूह की लिपि संसार में अपनी प्रतिष्ठा का दावा उपस्थित नहीं कर सकी है। पर विचारशील लोगों को मालूम है कि शुद्धता, सौन्दर्य और सफाई की दृष्टि से ब्राह्मी लिपि के कई रूप अतुलनीय हैं। यदि इनका एकीकरण हो तो यह एक अत्यन्त जबर्दस्त शक्ति सिद्ध होगी। परन्तु यहां भी हमें यह भ्रांत धारणा नहीं बना लेनी चाहिए कि यदि किसी दिन इन चिह्नों के एकीकरण का प्रयास हुआ तो हमारे ही चिह्न स्वीकार किये जायेंगे। यह मोह हमें अग्रसर नहीं होने देगा। हमें किसी भी बात में

मोह को प्रश्रय नहीं देना चाहिये। यदि किसी दिन ब्राह्मी से उत्पन्न लिपियों के एकीकरण का गम्भीर प्रयत्न हुआ तो शायद देवनागरी लिपि को प्रधान मानकर ही वह कार्य होगा। क्योंकि देवनागरी लिपि में संस्कृत की पुस्तकें छपती हैं और संस्कृत आजकल अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन-अध्यापन का विषय हो गई है और उसके साथ ही साथ देवनागरी लिपि भी अन्तराष्ट्रीय जगत् में परिचित हो गई है परन्तु इसके कई चिह्न बदलने पड़ेंगे। इनमें कितने ही नये जोड़ने भी पड़ेंगे। हमें इसके लिए तैयार रहना चाहिये क्योंकि ऐसा होने से करोड़ों मनुष्यों को सुविधा प्राप्त होने की संभावना है।

मैं बराबर ही ऐसा विश्वास करता आया हूं कि हिन्दी केवल काव्य, नाटक लिखनेवालों की भाषा नहीं है। उसमें संसार की समस्त चिन्तनराशि आनेवाली है। हमारे इस देश में कभी जो स्थान संस्कृत का था और आज जो स्थान अंग्रेजी को प्राप्त हो गया है उससे भी अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण पद पर हिंदी को बैठना है। उसे संसार के समूचे ज्ञान-विज्ञान का वाहन बनना है। उसका कर्तव्य बहुत है, अपने को अपने महान् उत्तरदायित्व के योग्य उसे सिद्ध करना होगा। मनुष्य को अज्ञान, मोह और परमुखापेक्षिता से बचाने के महान् उद्देश्य से उसका साहित्य प्रणोदित होना चाहिये। हमें भूल नहीं जाना चाहिये कि हिन्दी इसी विराट् उद्देश्य को सामने लेकर ही इस महत्त्वपूर्ण आसन की अधिकारिणी हो सकती है जो उसका उचित प्राप्य है और जिस पद

पर विधाता ने उसे स्वयं बैठा दिया है। आप पूछ सकते हैं कि वह प्रतिष्ठित पद क्या है, जिस पर हिंदी आसीन हो चुकी है। वह यही है कि हिंदी आज भारतवर्ष के हृदय में वर्तमान प्रदेशों की मातृभाषा है। करोड़ों नर-नारियों की आशा-आकांक्षा, अनुराग-विराग और रुदन-हास्य की भाषा है। उसी में वह शक्ति है जो भारतवर्ष के सारे भाग के दुःख सुख को प्रकट कर सकेगी। संक्षेप में, यह भारतीय महाद्वीप की केन्द्रीय भाषा है। भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा कुछ भी हो लेकिन जो बात निर्विवाद है, वह यह है कि भारतवर्ष की केन्द्रीय-भाषा— वह भाषा, जिसका आश्रय लिए विना कोई आन्दोलन, चाहे वह धार्मिक, सामाजिक या राजनीतिक हो, असफल होने को बाध्य है हिंदी है। उसमें साहित्य लिखने का अर्थ है भारतवर्ष के तीन चौथाई आदमियों की मानसिक शक्ति को उत्तेजित करना, उनके चरित्र का निर्माण करना और भारतवर्ष के साथ भाग्य को विशेष दिशा की ओर ले जाना! उस भाषा को दृष्टि में रखकर ही साहित्य-निर्माण करना है। अगर यही भाषा राष्ट्र-भाषा बना दी गई, तो हमें खुशी ही होगी, अगर राष्ट्र-भाषा भी मानी गई, तो हमें नाराज होने की कोई जरूरत नहीं रहेगी। मैंने कई बार जो बात कही है उसे फिर दुहरा देता हूँ। हमें इस भ्रम का शिकार नहीं होना चाहिये कि सभा-सोसाइटियों का संगठन करके और उनमें पार्टीबन्दी खड़ी करके हम कुछ कर लेंगे। इससे हल्ला चाहे जितना कर लें, साहित्य नहीं बना सकते। साहित्य देश के कोनों में बिखरे हुए लोग

अलग-अलग बैठकर लिखते हैं। सभा करके आप उनको सम्मान दे सकते हैं, शक्ति नहीं। प्रोत्साहन दे सकते हैं, प्रतिभा नहीं। मौलिक साहित्य के रचयिता प्रायः सभाओं के संचालक नहीं हुआ करते, इसलिए सभाओं के संगठित करते समय हमलोगों को अपना कर्त्तव्य भी स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये। हमें साहित्य का निर्माण आज की परिस्थिति को देखकर करना है। समय बड़ी तेजी से बदल रहा है। आज से दस वर्ष बाद हिंदी भारतवर्ष की सबसे अधिक साहित्यशून्य भाषा लगेगी। इसलिए नहीं कि वह अन्यान्य प्रान्तीय भाषाओं से पिछड़ी हुई है बल्कि इसलिए कि उसके प्रयोजन अत्यधिक हैं। लाखों वर्गमील में फैले हुए करोड़ों आदमियों की साहित्यिक और वैज्ञानिक पिपासा मिटाने का महान व्रत उसे लेना है। इतनी बड़ी जिम्मेवारी किसी अन्य भाषा की नहीं है। हमारे अन्दर जो कुछ भी गंभीरता है, उसके साथ हमें सोचना होगा कि समय के भागते हुए वेग से हिन्दी गति के का सामंजस्य किस प्रकार होगा।

आप मौलिक रचयिताओं अर्थात् कवियों, औपन्यासिकों और कहानीकारों को नहीं बना सकते; पर ऐसे बुद्धिमान युवक आपके देश में भरे पड़े हैं, जिन्हें उपयुक्त नेतृत्व और साधन मिले, तो साहित्य को नाना प्रकार की परिचितिमूलक पुस्तकों से भर सकते हैं। जिस साहित्य में भिन्न संस्कृतियों, इतिहासों, कला-परिचायक ग्रंथों, मनोवैज्ञानिक और मानवविज्ञानादि शास्त्रों की

पुस्तकें नहीं हैं, उनमें आज के युग में उपयुक्त हो सकनेवाला कवि या नाटककार हो ही नहीं सकता। ये शास्त्र ही कवि के दिमाग को उर्वर बनाते हैं। प्राचीन साहित्य का मेरुदण्ड पौराणिक कथाएं थीं, आज के साहित्य की रीढ़ विज्ञान और इतिहास है। कविता और नाटक के क्षेत्र को सूना देखकर आह भरनेवाले ठीक उसके कारण को हृदयंगम करते तो पहले इन विषयों की पुस्तकों के अभाव पर ही दुःख प्रकट करते। अबतक हमारे कवि और अन्य कलाकार इन विषयों का ज्ञान विदेशी भाषा के माध्यम से प्राप्त करते रहे हैं। यही कारण है कि इन विषयों से अपरिचित हिन्दी-भाषी को इनका अर्थ समझ में नहीं आता। आधुनिक कविता को अगर आप हिन्दी में देखना चाहते हैं, तो पहले विज्ञान, संस्कृति, इतिहास मनोविज्ञान, तर्कशास्त्र, समाज-विज्ञान आदि को देखने की इच्छा प्रकट कीजिए।

अपना यह देश कोई नया साहित्यिक प्रयोग करने नहीं निकला है। इसकी साहित्यिक परम्परा अत्यन्त दीर्घ धारावाहिक और गम्भीर है। साहित्य नाम के अन्तर्गत मनुष्य जो कुछ भी सोच सकता है उस सब का प्रयोग इस देश में सफलतापूर्वक हो चुका है! यह अपनी भाषा का दुर्भाग्य है कि हमारे प्राचीन चिन्तनराशि को उसमें संचित नहीं किया गया है। संस्कृत, पाली और प्राकृत की उत्तम पुस्तकों के जितने उत्तम अनुवाद अंग्रेजी, फ्रेंच और जर्मन आदि भाषाओं में हुए हैं उतने हिन्दी में नहीं हुए। परन्तु दुर्भाग्य लाक्षणिक प्रयोग है और यह

वस्तुतः उस विशाल मानव-समाज का दुर्भाग्य है जो उस भाषा के जरिये ही ज्ञान-अर्जन करता है। यह विशाल साहित्य अपनी भाषाओं में यदि अनूदित होता तो हमारा साहित्यिक सहज ही सैकड़ों प्रकार के अपप्रचारों और हीनभावनाओं का शिकार होने से बच जाता जो सम्पूर्ण समाज को दुर्बल और परमुखापेक्षी बना रही हैं। भिन्न-भिन्न स्वार्थ के पोषक प्रचारक इस देश की अति-मात्र विशेषताओं का डंका प्रायः पीटा करते हैं इतिहास को कभी भौगोलिक व्याख्या के भीतर से कभी जातिगत (Racial) और कभी धर्मगत विशेषताओं के भीतर से प्रतिफलित करके समझाया जाता है कि हिंदुस्तानी जैसे हैं उन्हें वैसा होना ही है और उसी रूप में बने रहना ही उनके लिए श्रेयस्कर है। इतिहास की जो अभद्र व्याख्या इन भिन्न भिन्न विशेषताओं के भीतर से देखने-वाले प्रचारकों ने की हैं वह हमारे रोम-रोम में व्याप्त होने लगी हैं। अगर इस जहर को दूर करना है तो प्राचीन ग्रन्थों के देशी प्रामाणिक संस्करण और अनुवाद करने के सिवा और कोई रास्ता नहीं है। लेकिन अपनी भाषा में प्राचीन ग्रंथों को सिर्फ हमें इसलिए नहीं भरना है कि हमें दूसरे स्वार्थी लोगों के अप-प्रचार के प्रभाव से मुक्त होना है। विदेशी पंडितों ने अपूर्व लगन और निष्ठा के साथ हमारे प्राचीन शास्त्रों का अध्ययन, मनन और सम्पादन किया है। हमें उसका कृतज्ञ होना चाहिये परन्तु यह बात भूल नहीं जाना चाहिये कि अधिकांश विदेशी पण्डितों के लिए हमारे प्राचीन शास्त्र नुमाइशी वस्तुओं के समान हैं। उनमें

उनका जो सम्मान है उसे अंग्रेजी के 'म्यूजियम इन्टरेस्ट' शब्द से ही समझाया जा सकता है। नुमायश में रखी हुई चीजों को हम प्रशंसा और आदर की दृष्टि से देखते हैं पर निश्चित जानते हैं कि हम अपने जीवन में उनका व्यवहार नहीं कर सकते। किसी मुगल सम्राट् का चोंगा किसी प्रदर्शिनी में दिख जाय तो हम प्रशंसा उसकी जितनी करें हम निश्चित जानेंगे कि उसको हमें धारण नहीं करना है। परन्तु भारतीय शास्त्र हमारे देश-वासियों के लिये प्रदर्शिनी की वस्तु नहीं हैं। वे हमारे रक्त में मिले हुए हैं। भारतवर्ष आज भी उसकी व्यवस्था पर चलता है और उनसे प्रेरणा पाता है। इसीलिए हमें इन ग्रंथों को अपने ढंग से संपादन करके छापना है, इनके ऐसे अनुवाद प्रकाशित करना है जो पुरानी अनुश्रुति से विच्छिन्न और असंबद्ध भी न हों और आधुनिक ज्ञान के आलोक में देख लिए गए हों। यह बड़ा विशाल कार्य है। संस्कृत भारतवर्ष की अपूर्व महिमाशालिनी भाषा है। वह हजारों वर्ष के दीर्घ काल में और लाखों वर्गमील में फैले हुए मानव-समाज के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में विहार करने-वाली भाषा है। उसका साहित्य विपुल है, उसकी साधना गहन है और उसका उद्देश्य साधु है। उस भाषा को हिन्दी माध्यम से समझने का प्रयत्न करना भी एक तपस्या है। उस तपस्या के लिए संयम और आत्मबल की आवश्यकता है। हमें अपनी संपूर्ण शक्ति लगाकर गंभीरतापूर्वक उसके अध्यन में जुट जाना चाहिये। हिन्दी को संस्कृत से विच्छिन्न करके देखने

वाले उनकी अधिकांश महिमा से अपरिचित रह जाते हैं। महान् कार्य के लिए विशाल हृदय होना चाहिये। हिंदी का साहित्यनिर्माण सचमुच महान् कार्य है।

मैं जानता हूँ कि इस देश में इसी देश की सर्वाधिक पूज्य और समृद्ध भाषा की स्तुति करना कुछ समझ में न आनेवाली-सी बात है, परन्तु दुर्दैव ने आज हमारी मनोवृत्ति ऐसी बना दी है कि हमें संस्कृत की महिमा सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण संग्रह करने पड़ते हैं। बुद्धिमान व्यक्ति यदि ध्यानपूर्वक हमारे पिछले हजारों वर्ष के इतिहास को देखें तो निश्चित रूप से स्वीकार करेंगे कि यद्यपि धर्मोपदेश और काव्य-रचना के लिए कभी-कभी भिन्न-भिन्न भाषाओं का भी व्यवहार हुआ है परन्तु सब मिलाकर पिछले कई सहस्राब्दों तक भारतवर्ष के सर्वोत्तम को—उसके ज्ञान और विज्ञान को, उसके दर्शन और अध्यात्म को; उसके ज्योतिष और चिकित्सा को, उसकी राजनीति और व्यवहार को, उसके कोष और व्याकरण को, उसकी सम्पूर्ण गुरुत्वपूर्ण चिन्ताराशि को—इसी भाषा ने वहन किया है। विदेशी लोगों के झुण्ड बराबर इस देश में आते रहे हैं और उन्होंने भी बड़ी ही जल्दी सीख लिया है कि संस्कृत ही उनके काम की भाषा हो सकती है। यह आश्चर्य की बात बताई जाती है कि संस्कृत भाषा का सबसे पुराना शिलालेख जो सन् ईस्वी के सौ-डेढ़ सौ वर्ष बाद खुदवाया गया था, गिरनार में शक महाक्षत्रप रुद्रदामा का है। इस शिलालेख ने इस भ्रम का

निराकरण कर दिया है जो ऐतिहासिक पण्डितों द्वारा प्रचारित किया गया था कि संस्कृत का अभ्युत्थान बहुत शताब्दियों बाद गुप्त सम्राटों द्वारा हुआ था। इसमें कोई संदेह नहीं कि संस्कृत की अभिवृद्धि में गुप्त सम्राटों का बहुत हाथ था परन्तु यह नितांत गलत बात है कि उनके पहले कुछ दिनों तक उसका वेग रुद्ध हो गया था। इस प्रकार संस्कृत इस देश की अपूर्व महिमामयी भाषा है। हिंदी उसके भाण्डार को संपूर्ण रूप से जब तक अपने स्वायत्त नहीं कर लेती तब तक वह सूनी ही दिखेगी। यह सदा ध्यान में रखना चाहिये कि अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों का संपादन-प्रकाशन यदि हम उसी निष्ठा और लगन से न कर सकें जिससे विदेशी पण्डितों ने किया है तो अन्तर्राष्ट्रीय सभा में हम हीन सिद्ध होंगे। ❀

❀ आरा में हरप्रसाद जैनकालेज की साहित्य-परिषद् के सभापति-पद से दिये गए भाषण से।

हिन्दी-प्रचार की समस्या

आज से दस वर्ष पहले हिन्दी-प्रचार का कार्य केवल हिन्दी-भाषियों के कर्तव्य, उत्साह और भावुकता के ऊपर निर्भर करता था और अहिन्दी-भाषियों की उदारता, अनुकूलता और कृपा के बल पर पनपने योग्य समझा जाता था। आज हिन्दी-प्रचार का सवाल देश की बड़ी-बड़ी समस्याओं में से एक समस्या है। हम वास्तविकता के बहुत नजदीक आ गए हैं, कठिनाइयाँ सहस्र-मुख होकर प्रकट हुई हैं। जो लोग हिन्दीभाषा को अपनी भाषा मानते हैं, वे शायद उन प्रश्नों से सम्पूर्ण परिचित नहीं हैं, जो हिन्दी-प्रचार के नाम पर उठाये जा रहे हैं, वे स्वयं उन अभि-योगों से भी अनभिज्ञ ही हैं, जिनका आरोप उनके ऊपर किया जाता है। अब हमें निश्चित रूप से समझ लेने की जरूरत है कि हिंदी-प्रचार क्या वस्तु है, क्योंकि जब तक हम ठीक-ठीक यह नहीं जान लेते कि हिंदी-प्रचार क्या वस्तु है, तब तक उसके सम्बन्ध की अन्यान्य समस्याएँ और तत्सम्पर्कित अभियोगों का समझना असम्भव है। असल में 'हिन्दी-प्रचार' शब्द का प्रयोग अब तक अनिश्चित और अस्तव्यस्त अर्थ में होता रहा है। कुछ चोटी के लोग तो ठीक-ठीक अपनी रुचि के अनुसार इसका निश्चित अर्थ में प्रयोग करते हैं; पर साधारणतः जिन लोगों को कार्यरूप में इसके प्रयोग का भार वहन करना पड़ा है, वे

इसका मतलब ठीक-ठीक नहीं समझते रहे हैं। इस बात का पक्का प्रमाण महात्मा गांधी की अध्यक्षता में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन (इन्दौर) में पास हुआ वह प्रस्ताव है, जिसमें कहा गया है कि हिन्दी वह भाषा है, जो नागरी और फारसी दोनों अक्षरों में लिखी जाती है। अगर शुरू से ही ठीक-ठीक समझा गया होता कि महात्मा गांधी का 'हिन्दी-प्रचार' शब्द का क्या अभिप्राय है, तो इस बात का इतना विरोध न होता। दूसरा उदाहरण राष्ट्रपति बोस के भाषण में रोमन लिपि की सिफारिश का विरोध है। अगर हिन्दी-भाषा के साथ हिन्दू संस्कृति को गूँथकर सोचा न गया होता, तो उसका भी इतना तीव्र विरोध न होता —होता भी तो बहुत नर्म और खीझ से रहित।

हिन्दी-प्रचार का अर्थ क्या है? हिन्दी-भाषा का प्रचार, हिन्दी-साहित्य का प्रचार, हिन्दी-संस्कृति का प्रचार या एक, दो या तीनों का प्रचार? इन प्रश्नों के उत्तर पर ही हिन्दी-प्रचार की समस्त समस्याओं का समाधान निर्भर है। ये प्रश्न कुछ कल्पित नहीं हैं। इन प्रश्नों का आश्रय लेकर प्रचारकों पर अनेक प्रकार के अभियोग लगाये गए, तरह-तरह की शंकाएँ प्रकट की गई और नाना भाँति के व्यंग्य और कटाक्ष किए गए हैं।

हिन्दी-प्रचार के सिलसिले में हमने एक नये शब्द का आविष्कार किया है। यह शब्द है 'राष्ट्र-भाषा'। हमने इस शब्द को इतने उत्साह के साथ ग्रहण किया है कि अपनी भाषा को हिन्दी न कह कर 'राष्ट्र-भाषा' कहने में एक तरह का गौरव अनु-

भव करने लगे हैं। अपने साहित्य को राष्ट्र-भाषा का साहित्य और अपने कवि को राष्ट्र-भाषा का कवि कहना हमारे लिए एक मामूली बात हो गई है। लेकिन राष्ट्र-भाषा का अर्थ क्या है ? राष्ट्र की भाषा नामक कोई भाषा अभी तक हमारे पास नहीं है; भविष्य में जो भाषा बनेगी, वह और चाहे जिस नाम से पुकारी जाय, 'राष्ट्रभाषा' नाम से नहीं पुकारी जायगी। अब तक हम उसे उसी जोश में इस नाम से पुकारते रहे, जिस जोश में कुछ दिन पहले उसे आर्य-भाषा कहना शुरू किया था। जोश ठंढा पड़ते ही हमने अनुभव किया कि आर्य-भाषा उपयुक्त शब्द नहीं है। इस बात के भी लक्षण दिखाई देने लगे हैं कि शीघ्र ही हम अनुभव करेंगे कि राष्ट्र-भाषा संस्कृत का शब्द है, इसलिए जिस पदार्थ को हम आज तक राष्ट्र कहते आ रहे हैं, उसके ग्रहण योग्य नहीं है। लेकिन हमें यहाँ इस बात से विवाद नहीं है कि उक्त भाषा को राष्ट्र-भाषा कहा जायगा या कौमी जबान या और कुछ (जैसे राष्ट्र-जबान!)। हमें विचार यह करना है कि जब हम अपनी मातृ भाषा और साहित्य-भाषा को राष्ट्र-भाषा कहने लगे हैं, तो हमारी मनोवृत्ति के मूल में क्या रहा है।

हिन्दी-प्रचार के सम्बन्ध में निरन्तर यह घोषणा की जाती रही है कि हिन्दी-प्रचार का अर्थ प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य को दबाना नहीं है, बल्कि समूचे देश में एकात्मता की भावना को दृढ़ और जबर्दस्त बनाना है। यह साधु उद्देश्य है। कांग्रेस ने इस विषय में क्या प्रस्ताव पास किया है, ठीक याद नहीं आ

रहा है, पर उसका उद्देश्य केवल भाषा का प्रचार है, साहित्य का नहीं। असल में राष्ट्रीय कारणों से जिस भाषा का प्रचार होगा, वह केवल प्रयोजन की भाषा होगी, विशेष उद्देश्य की सिद्धि के लिए कृत्रिम तौर पर गढ़ी हुई भाषा होगी—उसका हमारी मातृभाषा के साथ सम्पूर्ण मेल नहीं भी हो सकता है। कलकत्ते की बाजारू हिन्दी एक ऐसी ही भाषा है। उसमें राष्ट्र-भाषा के सभी लक्षण मौजूद हैं; पर साहित्य-भाषा के एक भी नहीं। जिस भाषा में हम अपने हृदय की तड़पन प्रकट करेंगे, उसी भाषा में दो भिन्न भाषा-भाषियों का 'सौदा' नहीं चल सकता। दोनों दो चीजें होंगी। लेकिन जब हमने अपनी मातृ-भाषा को और साहित्य-भाषा को राष्ट्रभाषा कहना शुरू किया, तो अप्रत्यक्ष रूप से हमने अपने साहित्य के प्रचार का ही व्रत लिया। इस बात से भिन्न-भिन्न प्रान्तों में जो प्रतिक्रिया हुई, उससे हम अपरिचित ही बने रहे, क्योंकि हमने कभी सोचा ही नहीं कि जिसे हम साहित्य-भाषा समझ रहे हैं, उसे दूसरे केवल प्रयोजन की कामचलाऊ भाषा मात्र मानते हैं। बंगाल के एक प्रतिष्ठित मासिक ने लिखा था कि संस्कृत अब तक भारतवर्ष की राष्ट्र-भाषा रही है, ऐसी सर्वगुणसम्पन्न भाषा के सिंहासन पर हिन्दी बैठना चाहती है, यह उसके लिए हिमाकत की बात नहीं तो क्या है! हाल ही में श्री राजपालाचारियर का एक व्यंग-चित्र मद्रास में प्रकाशित किया गया था, जिसमें वे अपनी मातृभाषा को छुरी भोंक रहे हैं। महाराष्ट्र के एक विद्वान् ने

लेखक से बातचीत के सिलसिले में कहा कि हिन्दी में केवल साहित्य का अभाव होता तो कोई विशेष बात नहीं थी; पर हिन्दीवालों की अपनी कोई संस्कृति भी तो नहीं है! इन सभी बातों की सचाई की जाँच करना हमारा उद्देश्य नहीं है। हम यहाँ यही दिखाना चाहते हैं कि इन सारी बातों का स्पष्ट अर्थ यह है कि ये लोग धारणा किये बैठे हैं कि हम भाषा का नहीं; साहित्य का प्रचार कर रहे हैं, और जिस प्रकार खद्दर-प्रचार का अर्थ है अ-खद्दर वस्त्रों का उच्छेद, उसी प्रकार हिन्दी-साहित्य के प्रचार का उद्देश्य है अहिन्दी साहित्य का उच्छेद। यह धारणा सचमुच खतरनाक है।

हिन्दी-प्रचार के आलोचकों और विरोधियों का ही केवल दोष है, यह बात हम नहीं कहते। जिन लोगों ने हिन्दी-प्रचार का व्रत लिया है, उनकी ओर से भी कोई गलती होनी चाहिए। अव्वल तो हिंदी-प्रचार शब्द का चुनाव ही कुछ गलतफहमी की सृष्टि करता है। साधारणतः हम धर्म-प्रचार या किसी व्यवसायिक वस्तु के प्रचार की ही बात सुनते आये हैं। धर्म-प्रचार के नाम पर ईसाई पादरियों ने जितना भी अच्छा कार्य क्यों न किया हो साधारण जनता उन्हें सन्देह की दृष्टि से देखती है, क्योंकि धर्मप्रचार के नाम पर आदमी का मजहब तो बदल दिया जाता है; पर आदमी को उसकी समस्त असत्प्रवृत्तियों के साथ बदलने की कोशिश बहुत कम की जाती है। इस प्रकार बदले हुए मजहब का आदमी जहां अपने अन्य सगे-सम्बन्धियों से

विच्छिन्न हो जाता है, वहाँ उसके पूर्ववर्ती दुर्गुण ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं। व्यवसाय की सुविधा के लिए स्वार्थमय दृष्टि से जिन वस्तुओं का प्रचार किया जाता है, उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जायगी, क्योंकि वह और भी नीचे की बात है। असल में आधुनिक प्रचार-युग में हम यह भूल गए हैं कि सात्विक प्रचार ऐसा भी हो सकता है जो हमारे सुप्त सद्गुणों को उत्तेजित करे, हमारी दबी हुई सत्प्रवृत्तियों को जगा दे और हमें सत्पथ पर आरूढ़ करे। सत्साहित्य एक ऐसी ही सात्विक वस्तु है। पर हमें सावधानी के साथ इस साहित्य के सात्विक अंश की जांच करनी चाहिये। धर्म की भाँति वह भी अविरोधी और धनात्मक होना चाहिये, उसके प्रचारक का भी देने की अपेक्षा लेने की ओर आग्रह अधिक होना चाहिये। इन पंक्तियों के लेखक का यह व्यक्तिगत अनुभव है कि जो प्रचारक श्रद्धापूर्वक प्रचार-क्षेत्र के साहित्य को ग्रहण नहीं कर सकता, वह कभी भी सफल नहीं हो सकता। हिन्दी-साहित्य के प्रचार का अर्थ इसीलिए यह होना चाहिये कि हमें प्रान्त-विशेष को अपना सर्वोत्तम देना है और उक्त प्रान्त की सर्वोत्तम वस्तु ग्रहण करना है। जब तक हम उक्त प्रान्त के वायुमण्डल में मनसा वाचा कर्मणा घुलमिल न जायँ, तब तक हमें अपने को प्रचारक कहने का कोई हक नहीं है। हिन्दी-प्रचार से अगर प्रचारक्षेत्र के प्राणों में स्पन्दन नहीं होता, जीवन में नवचेतना नहीं आती, तो प्रचार-कार्य व्यर्थ समझना चाहिये। अगर प्रांतवासियों को प्रचार-कार्य से यह संदेह

हुआ हो कि हम उनके साहित्य को उन्मूलन करना चाहते हैं, तो गलती हमारी है। अगर इतने दिनों की चिल्लाहट के बाद सारे देश में यही धारणा हुई हो कि हमारा साहित्य तीसरे दर्जे का है और हमारी संस्कृति का कोई अस्तित्व नहीं है, तो समझना होगा कि हमने श्रीगणेश ही गलत किया है। हमें 'नीके दिन' की प्रतीक्षा में अपना कारबार समेट लेना चाहिये। अनुकम्पा और कृपा के बल पर प्रचार करना और सार्टिफिकेटों का संग्रह बन्द कर देना चाहिये। इससे हिंदी-साहित्य के प्रति जिस मनोभाव की सृष्टि होती है, वह हिन्दी जनता के लिए अपमानजनक है। हिंदी-प्रचार के नामपर धर-पकड़ कर एकत्र किये हुए विद्वानों के दुलरावने लहजे (patronising tone) में दिये हुए व्याख्यानों को संग्रह करने की फालतू चेष्टाएँ यथाशीघ्र बन्द होनी चाहिए।

—२—

आज हिन्दी के सम्बन्ध में जो देश-व्यापी चर्चा चल रही है, उसका प्रधान कारण महात्माजी की कृपा और आशीर्वाद है। स्वयं हिन्दी-भाषियों को इसमें गौरव या गर्व अनुभव करने की कोई बात नहीं है। महात्माजी ने अगर हिन्दी के सिवा किसी अन्य भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने की बात सोची होती (उदाहरणार्थ, पश्तो को), तो उसकी भी चर्चा इसी व्यापकता के साथ होती। हमारे गर्व करने की बात केवल इतनी ही सी है कि महात्माजी जैसे दूरदर्शी महापुरुष ने हमारी भाषा में ही वे गुण पाये, जो इस भाषा को भारत-व्यापी बना सकते हैं। परन्तु

विच्छिन्न हो जाता है, वहाँ उसके पूर्ववर्ती दुर्गुण ज्यों-के-त्यों रह जाते हैं। व्यवसाय की सुविधा के लिए स्वार्थमय दृष्टि से जिन वस्तुओं का प्रचार किया जाता है, उनकी चर्चा यहाँ नहीं की जायगी, क्योंकि वह और भी नीचे की बात है। असल में आधुनिक प्रचार-युग में हम यह भूल गए हैं कि सात्विक प्रचार ऐसा भी हो सकता है जो हमारे सुप्त सद्गुणों को उत्तेजित करे, हमारी दबी हुई सत्प्रवृत्तियों को जगा दे और हमें सत्पथ पर आरूढ़ करे। सत्साहित्य एक ऐसी ही सात्विक वस्तु है। पर हमें सावधानी के साथ इस साहित्य के सात्विक अंश की जांच करनी चाहिये। धर्म की भाँति वह भी अविरोधी और धनात्मक होना चाहिये, उसके प्रचारक का भी देने की अपेक्षा लेने की ओर आग्रह अधिक होना चाहिये। इन पंक्तियों के लेखक का यह व्यक्तिगत अनुभव है कि जो प्रचारक श्रद्धापूर्वक प्रचार-क्षेत्र के साहित्य को ग्रहण नहीं कर सकता, वह कभी भी सफल नहीं हो सकता। हिन्दी-साहित्य के प्रचार का अर्थ इसीलिए यह होना चाहिये कि हमें प्रान्त-विशेष को अपना सर्वोत्तम देना है और उक्त प्रान्त की सर्वोत्तम वस्तु ग्रहण करना है। जब तक हम उक्त प्रान्त के वायुमण्डल में मनसा वाचा कर्मणा घुलमिल न जायँ, तब तक हमें अपने को प्रचारक कहने का कोई हक नहीं है। हिन्दी-प्रचार से अगर प्रचारक्षेत्र के प्राणों में स्पन्दन नहीं होता, जीवन में नवचेतना नहीं आती, तो प्रचार-कार्य व्यर्थ समझना चाहिये। अगर प्रांतवासियों को प्रचार-कार्य से यह संदेह

हुआ हो कि हम उनके साहित्य को उन्मूलन करना चाहते हैं, तो गलती हमारी है। अगर इतने दिनों की चिल्लाहट के बाद सारे देश में यही धारणा हुई हो कि हमारा साहित्य तीसरे दर्जे का है और हमारी संस्कृति का कोई अस्तित्व नहीं है, तो समझना होगा कि हमने श्रीगणेश ही गलत किया है। हमें 'नीके दिन' की प्रतीक्षा में अपना कारबार समेट लेना चाहिये। अनुकम्पा और कृपा के बल पर प्रचार करना और सार्टिफिकेटों का संग्रह बन्द कर देना चाहिये। इससे हिंदी-साहित्य के प्रति जिस मनोभाव की सृष्टि होती है, वह हिन्दी जनता के लिए अपमानजनक है। हिंदी-प्रचार के नामपर धर-पकड़ कर एकत्र किये हुए विद्वानों के दुलरावने लहजे (patronising tone) में दिये हुए व्याख्यानों को संग्रह करने की फालतू चेष्टाएँ यथाशीघ्र बन्द होनी चाहिए।

—२—

आज हिन्दी के सम्बन्ध में जो देश-व्यापी चर्चा चल रही है, उसका प्रधान कारण महात्माजी की कृपा और आशीर्वाद है। स्वयं हिन्दी-भाषियों को इसमें गौरव या गर्व अनुभव करने की कोई बात नहीं है। महात्माजी ने अगर हिन्दी के सिवा किसी अन्य भाषा को राष्ट्र-भाषा बनाने की बात सोची होती (उदाहरणार्थ, पश्तो को), तो उसकी भी चर्चा इसी व्यापकता के साथ होती। हमारे गर्व करने की बात केवल इतनी ही सी है कि महात्माजी जैसे दूरदर्शी महापुरुष ने हमारी भाषा में ही वे गुण पाये, जो इस भाषा को भारत-व्यापी बना सकते हैं। परन्तु

हमने क्या महात्माजी को ठीक-ठीक समझने की कोशिश की है? शायद नहीं। महात्माजी के कथन का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, यह बात हम यहाँ नहीं उठावेंगे,—उसको ठीक-ठीक समझाना अपने बूते की बात भी नहीं, परन्तु हमने उसे कैसा समझा है, यही सवाल हम उठाना चाहते हैं।

जैसा कि शुरू में इशारा किया है, हमने हिन्दी के प्रचार को केवल भाषा का प्रचार कभी नहीं समझा, उसमें साहित्य और संस्कृति को भी मानते हैं; परन्तु अपनी यह मनोवृत्ति अपने ही निकट स्पष्ट नहीं थी। शायद इतने दिनों बाद हम उस मनोवृत्ति के विश्लेषण करने योग्य अवस्था में पहुँच गए हैं। यहाँ यही प्रयास किया जा रहा है।

राष्ट्र-भाषा के प्रसंग में हम सदा सूर-तुलसी और कबीर के नाम लेते रहे, अर्थात् हमने अपने प्राचीन साहित्य से इसे अलग नहीं माना, दूसरी ओर आमफ़हम भाषा की बात भी करते रहे, और इसका अर्थ यह समझते रहे कि वही भाषा राष्ट्र की भाषा हो सकती है, जिसे देश की अधिक से-अधिक जनता बोलती और समझती है। इन दोनों बातों का कोई सामंजस्य खोज निकालने की कोई जरूरत हमने नहीं समझी। हमें आपाततः ऐसा दिखता रहा कि इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। सच पूछा जाय तो विरोध सचमुच नहीं है। पर आमफ़हम भाषा कहकर उसका अर्थ हम इस युग में सर्वाधिक प्रचलित भाषा समझते रहे। यहीं विरोध है। समृद्ध साहित्य की भाषा निश्चय

ही वही होती है और होनी चाहिये, जो अधिक प्रचलित हो; पर उसका प्रचार केवल देश में नहीं काल में भी होना चाहिये। साहित्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास होता है, और इसीलिए प्रत्येक शब्द के इर्द गिर्द एक वायुमडल बना रहता है। यह वायुमंडल हमें अनिर्वचनीय रस का साक्षात्कार कराता है। एक उदाहरण लेकर समझा जाय। श्री मैथिलीशरण गुप्त को हम राष्ट्रीय कवि कहते आये हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है:—

अब कठोर हो वज्रादपि हे कुसुमादपि सुकुमारी,
आर्य-पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

इस कविता के 'वज्रादपि' और 'कुसुमादपि' प्रयोग को 'संसकिरत लफ्ज' कहकर उड़ा देनेवालों की संख्या कम नहीं मिलेगी : पर जिन्हें इन शब्दों का इतिहास मालूम है, जिन्हें भवभूति और तुलसीदास की जादूभरी लेखनी का कुछ परिचय है, वे इन्हीं शब्दों से उल्लसित हो उठेंगे। उनके लिए शब्द का केवल देश में प्रचलित होना पर्याप्त नहीं है, काल से भी उसका अविछिन्न सम्बन्ध होना चाहिये। रवीन्द्रनाथ के 'आजि आषाढ़ेर प्रथम दिवसे' वाली कविता का सम्पूर्ण रस मेघदूत के युग की भाषा के ऊपर निर्भर है। जो लोग भाषा को साहित्य से अलग करके सोच सकते हैं, वे ही इस युग में प्रचलित आमफहम भाषा की बात सोच सकते हैं। सूर, तुलसी और कबीर के साथ-साथ भाषा की चिन्ता करनेवाले इस तरह नहीं सोच सकते। पर हम सोचते ऐसा ही रहे हैं!

यहीं पर संस्कृति का सवाल उठता है। किसी विशेष साहित्य का व्यक्तित्व उसकी अपनी संस्कृति है। इन पंक्तियों का लेखक व्यक्तिगत रूप से यह स्वीकार करता है कि संस्कृति नामक वस्तु का बाह्य उपकरण भावुकता-मूलक है, उसमें तर्क और बुद्धि को बहुत कम अवकाश है। यह ठीक है कि संस्कृत अविरोधी वस्तु है, और हमें समस्त भारतवर्ष की एक सांस्कृतिक एकता के लिए प्रयत्न करना है; परन्तु ऐसी एकता विभिन्न प्रान्तों की संस्कृति को उच्छिन्न करके नहीं प्राप्त की जा सकती। उनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ भारत की सामान्य एकता में बाधक नहीं होंगी जिस प्रकार प्रत्येक व्यक्ति की विशेषता जाति की सामान्य एकता की विरोधी नहीं होती। हिन्दी-प्रचार के सिलसिले में हम सदा यह दावा करते हैं कि हम युक्तिपूर्ण प्रमाण पेश कर रहे हैं। इस विषय में हमारी मनोवृत्ति कुछ अजीब-सी रही। हम भावुकता की बातें करते रहे; पर मन-ही-मन उसे युक्तिपूर्ण समझते रहे। हम अपनी संस्कृति की बात सोचते रहे; पर मन-ही-मन समझते रहे कि इस विषय में हम सम्पूर्ण पक्षपात-रहित हैं। हमने जान-बूझकर किसी का दिल नहीं दुखाया; पर अनजान में हम औरों को ठेस पहुँचाते रहे। उदाहरण लिया जाय। (यहाँ केवल उदाहरण दिया जा रहा है, किसी विशेष मत का समर्थन या खण्डन नहीं।)

श्री सुभाषचन्द्र बोस द्वारा समर्थित रोमन लिपि की बात ही ली जाय। इसका विरोध करते समय हमने ऐसी-ऐसी युक्तियाँ

दी हैं कि हँसी आती है। एक पत्रिका के सुयोग्य सम्पादक ने भूषण के कुछ खटर-पटरवाले छप्पय उद्धृत करके चैलेंज किया कि कोई इसे रोमन लिपि में लिखकर पढ़ दे! एक ने कहा कि रोमन लिपि में अक्षरों का उच्चारण कुछ और है, नाम कुछ और। एक ने बताया कि यह प्रमाणित हो चुका है कि देवनागरी वर्णमाला संसार की सब से पूर्ण वर्णमाला है, इसके स्थान पर रोमन लिपि का प्रचार करना मूर्खता है! ये सभी बातें खीझ से भरी भाषा में लिखी गईं। हम इतने नाराज हुए कि विषय की तह तक जाने की बात ही भूल गए। कहना व्यर्थ है कि युक्ति या तर्क के जवाब में खीझ नहीं होती, होती वहाँ है, जहां हमारी भावुकता आहत होती है।

यदि हम जानते कि भूषण के खटर-पटरवाले छप्पय से कहीं अधिक कष्टोच्चार्य वेदमन्त्र, अपभ्रंश के काव्य, समस्त पाली की पुस्तकें और उच्चारणवैचित्र्यदर्शी भाषाशास्त्रीय पोथे रोमन लिपि में छप चुके हैं, और यूरोपियन पण्डित देवनागरी अक्षरों में छपे ग्रंथों की अपेक्षा रोमन लिपि में छपे ग्रंथों को अधिक आसानी से पढ़ते हैं, तो चेलेंज करने की उपहासास्पद बातें न करते। तर्क करते समय हम मान लेते कि यह बात अभ्यास के ऊपर निर्भर है। अक्षरों के नाम और उच्चारणवाली बात को भी हम महत्त्व नहीं देते, क्योंकि यद्यपि हमारी भाषा में अक्षरों के नाम उनके उच्चारण के अनुरूप ही हैं, फिर भी संस्कृत में ऐसे अक्षरों की कमी नहीं है, जिनका नाम कुछ और है और उच्चारण कुछ और।

उदाहरण के लिए विसर्ग, अनुस्वार अघ्मानीय, जिह्वामूलीय आदि। यह बात कुछ दोष की नहीं है। फिर वर्णमाला और लिपि-चिह्न को एक ही मानकर तर्क को भावुकता से आविल भी नहीं करते। 'क' अक्षर अशोक के युग से लेकर आज तक और कन्याकुमारी से लेकर काश्मीर तक सैकड़ों प्रकार से लिखा जा चुका है और लिखा जा रहा है। अगर एक और नये तरीके से रोमन लिपि 'K' के समान लिखा जाय, तो बात बहुत तूल देने लायक नहीं हुई। हमारी वर्णमाला वही रह सकती है, लिपि बदल जायगी, अर्थात् चिह्न और तरह के होंगे।

लेकिन असली बात हम में से बहुत कम ने कही। अलग में हम उसे कहने में हिचकिचाते और उसे अपनी कमजोरी समझते रहे, हालाँ कि वह एकमात्र हमारा प्रबल प्रमाण है। यह बात है हमारी संस्कृति का अभिमान। मोह भी कहने पर हम आपत्ति नहीं करेंगे। रोमन लिपि चाहे जैसी भी हो, वह एक विदेशी वस्तु है। जिन चिह्नों के साथ हमारे हजारों वर्ष के सुख दुःख का इतिहास गुँथा हुआ है, उन्हें हम इतने सस्ते नहीं छोड़ना चाहते। उनमें दोष भी हों, तो ये दोष हमें बहुत प्रिय हैं। हम उन्हें सिर आँखों पर लेने को तैयार हैं। वे हमें इतने प्रिय हैं कि उनके विरुद्ध एक शब्द भी सुनकर तिलमिला जाते हैं। यही असली बात है।

पर अगर यही असली बात है, तो हम बंगालियों से बँगला और उड़िया लोगों से उड़िया अक्षर छोड़ने की बात क्यों कहें?

मुसलमानों को किस बिना पर उर्दू अक्षर त्यागने की बात कहते रहे हैं ?

—३—

ऊपर कहा गया है कि प्रत्येक शब्द का एक वायुमण्डल होता है। ये वायुमण्डलवाले शब्द ही भाषा में व्यक्तित्व ले आते हैं। बँगला, उड़िया और हिन्दी के शब्दों में अधिकांश संस्कृत शब्द व्यवहृत होते हैं। लेकिन एक में व्यवहृत संस्कृत शब्द दूसरे के निकट अपरिचित भी हो सकता है। बँगला में राग और उड़िया में अनुराग शब्द क्रोध के अर्थ में व्यवहृत होते हैं। दोनों ही शब्द संस्कृत के हैं; पर इन शब्दों को इसी अर्थ में हिंदी या मराठी में नहीं चलाया जा सकता। राष्ट्र-भाषा के प्रचार में उद्यमशील लोगों ने हिंदी के व्यक्तित्व की परवा नहीं की है। कुछ तो इसलिए कि हम अपनी संस्कृति की परवा किये बिना सब की सुनते रहे, अपनी संस्कृति की बात कहने को हम लज्जा देनेवाली बात समझते रहे और कुछ शब्दों को और मुहावरों को ग्रहण करने में हम गलत ढंग से भाषा की भावी समृद्धि की बात सोचते रहे। इन पंक्तियों का लेखक इस बात को स्वीकार करता है कि अन्यान्य भाषाओं से उचित शब्द ग्रहण करने से भाषा शक्तिशाली होती है; पर उसकी एक मात्रा होनी चाहिये। हमें उन्हीं शब्दों को ग्रहण करना चाहिये, जिनके लिए उपयुक्त शब्द हिन्दी में पहले से वर्तमान न हों। अगर हम जो जी में आया, वही इस गरीब भाषा के सिर लादते चले जायँगे, तो एक दिन वह इन शब्दों के

भार से ही अचल हो जायगी। क्या यह विडम्बना नहीं है कि हम बात तो आमफहम भाषा की करते हैं और ऐसे प्रयोग दिन-रात उसकी गर्दन पर लादते जा रहे हैं, जो किसी काल में हिन्दी बोलनेवालों ने सुना भी नहीं ? 'हमें ऐसी मान्यता नहीं है', 'रोचक और पथ्य वाचन', 'गैर विलायती माल' (अर्थात् विदेशी चीज) जैसे प्रयोग धुरन्धर लोग करते देखे जाते हैं।

जो प्रयोग विजातीय हैं उनको हिन्दी में प्रयोग करना और उन्हें स्वीकार कर लेना किसी दिन भाषा को समृद्ध करेगा या नहीं, यह तो भविष्य ही बतावेगा; पर जो बात स्पष्ट है, वह यह है कि ऐसे प्रयोग करनेवाले भूल जाते हैं कि हिन्दी एक ऐसी भाषा भी है, जिसमें करोड़ों के दुःख-सुख की अनुभूति भी प्रकाशित होती है और हठात् विजातीय प्रयोगों के भर जाने से उसकी सुकुमारता भी नष्ट होती है। वे लोग केवल याद रखते हैं कि हिन्दी राष्ट्र-भाषा है, अर्थात् दो व्यक्तियों के बीच प्रयोजन सिद्ध करने के लिए गढ़ी हुई एक काम-चलाऊ भाषा है, उसमें जो-कुछ भी, जैसा-तैसा भी, बोला जा सकता है, बशर्ते कि यह संस्कृत या अरबी या और किसी व्याकरण की सहायता से समझ लिया जा सके। जब हम इन प्रयोगों को आनतभाव से स्वीकार कर लेते हैं, तो दूसरों को यह धारणा होती है कि हमारे पास अपनी कोई संस्कृति नहीं है, हमारी भाषा का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है और इसीलिए हमारे पास कोई साहित्य नहीं है। हमें जरा

रुककर समझने की जरूरत है कि ऐसी धारणा उत्पन्न करने के लिए हमीं जवाबदेह हैं या नहीं।

—४—

लौटकर हम फिर अपने छोड़े हुए विषय पर आ जायँ। हम हिन्दी-भाषा को हिन्दी-साहित्य और हिन्दी-संस्कृति से अलग करके नहीं सोच सके हैं। लेकिन यह जरूर हुआ है कि अपनी इस मनोवृत्ति को हम ठीक-ठीक नहीं समझते रहे। ऐसा समय आ सकता है; जब संस्कृति और साहित्य को मनुष्य-जाति के लिए एक अनावश्यक भार समझा जाने लगे। उस दिन यह समूचा वक्तव्य अपने-आप त्याज्य हो जायगा। पर जब तक वह समय नहीं आया है, तब तक केवल भाषा का प्रचार हमारे लिए लाभ-दायक तो जो है सो है ही; कुछ अंशों में क्षतिकर भी है क्यों-कि इससे हमारे विषय में लोगों को गलत धारणाएँ हो रही हैं। जो राजनीतिक नेता केवल भाषा का प्रचार चाहते हैं, वे हमारे नमस्य हैं, हम उनका उपकार मानते हैं; परन्तु उनका प्रयोजन कुछ और है। वे व्यवहार योग्य काम-चलाऊ भाषा का प्रचार करना चाहते हैं; परन्तु जहाँ जाति का अपना सर्वोत्तम सत्य अभिव्यक्त करने का सवाल है, वहाँ उनकी निर्दिष्ट भाषा—चाहे वह जितने बड़े नेता द्वारा भी डिकटेटेड क्यों न हो—असफल होने को बाध्य है। साहित्यिक भाषा कृती ग्रन्थकारों द्वारा रचित होती है, राजनीतिक नेताओं द्वारा नहीं। केवल भाषा के द्वारा राजनीति या व्यापार का काम चल सकता है; पर उससे

मनुष्य और मनुष्य के बीच स्थायी सम्बन्ध की सृष्टि नहीं हो सकती। इसीलिए कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने बराबर इन पंक्तियों के लेखक से कहा है—"अपने साहित्य और संस्कृति का सर्वोत्तम देकर और दूसरे प्रान्त का सर्वोत्तम ग्रहण करके ही तुम दोनों प्रान्तों में गम्भीर आत्मीयता उत्पन्न कर सकते हो। आत्मीयता उत्पन्न करना एक जीवनव्यापी साधना से हो सकता है।"* जन-संख्या या ऐसी ही सस्ती दलीलों के बल पर सस्ते से छूटने से काम नहीं चलेगा। महात्मा गड़ात्मा गांधी ने भी यह अनुभव किया है। अखिल भारतीय साहित्य-परिषद् उसी का परिणाम है। लेकिन महात्माजी के सामने बहुत-सी बातें हैं, अड़चनें भी बहुत हैं। हम हिन्दी के साहित्य-प्रेमी उनके भरोसे कब तक हाथ पर हाथ धरे बैठे रहेंगे? हमें आज भली-भाँति समझ लेना है कि आज राजनीतिक सुविधा की हवा हमारी ओर वह रही है, और देश-भर में हमारी भाषा की ओर लोगों का ध्यान आकृष्ट हुआ है, ऐसे समय क्या 'हिन्दी-हिन्दी' चिल्लाकर हम सस्ते में निपट लेंगे? क्या हमारे सामने सब से बड़ा सवाल यही होगा कि किसी प्रकार 'जाता है,

---

* रवीन्द्रनाथ के शान्तिनिकेतन में हिन्दी-भवन की स्थापना हुई है। उसकी नींव में ताम्रफलक पर यह दोहा खोदकर स्थापित किया गया है—

"हिन्दी की संस्कृति तथा जो अनुपम रसवस्तु,
उनके उन्नयनार्थ यह निहित शिला शुभमस्तु।"

करता है, सिखाकर अपना उत्तरदायित्व हल्का कर लें? यही क्या हमारी सबसे बड़ी साधना होगी? देश की भाषागत एकता बहुत जरूरी है; पर उससे कहीं अधिक जरूरी है विचारगत एकता।

क्या हिन्दी में ऐसे युवक नहीं मिल सकते, जो बँगला, उड़िया या आन्ध्र-देश में जाकर गम्भीरता पूर्वक उनकी संस्कृति, साहित्य, रीति-नीति का अध्ययन करें और इस प्रकार अपने साहित्य को भी समृद्ध करें और उक्त प्रान्तवालों की भी सहानुभूति और श्रद्धा आकृष्ट करें? क्या तत्तत् प्रान्तों की भाषा का अध्ययन करके ऐसी योग्यता पैदा करनेवाले युवक हिन्दी में नहीं मिल सकते जो अपने साहित्य और अपनी सर्वोत्तम कृतियों का अनुवाद तत्तत् प्रदेश की भाषाओं में कर सकें? क्या हमारे युवक अपने साहित्य को नाना विषयों से इस प्रकार समृद्ध नहीं कर सकते कि अन्य भगिनी भाषाओं के साहित्यिक ज्ञान-लाभ की आकांक्षा से इस भाषा को सीखें? इन्हीं प्रश्नों के ऊपर आज की समस्या का समाधान निर्भर करता है। अगर इन प्रश्नों का उत्तर 'हाँ' में है तो विना कहे-सुने हमारे विरुद्ध जो-कुछ अभियोग लगाये गए हैं, वे सब खण्डित हो जायँगे और अगर इन प्रश्नों का उत्तर 'ना' में है तो हजार बार प्रतिवाद करने पर भी, अखबारों में पन्ने-पन्ने रँग देने पर भी हम भिन्न-भिन्न प्रान्तों के निवासियों के चित्तसे अपने विरुद्ध अकारण उत्पन्न धारणाओं को दूर नहीं कर सकते। दूर करने का कोई और

रास्ता है ही नहीं। हमें भलीभाँति समझ लेना चाहिये कि आदमी जितना ही सस्ते छूटना चाहता है, उतना ही लोक-चक्षु में हेय हो जाता है। राष्ट्र-भाषा की अनुचित गर्वानुभूति से कहीं हमारे अन्दर सस्ते में निबटने की आदत न पड़ जाय, हमारी साधना छिछली न हो जाय, हमारी तपस्या विफल न हो पड़े—सदा सर्वदा हमें इस बात का ध्यान रखना होगा।

—o—
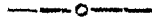
रस का व्यावहारिक अर्थ

—२—

प्राचीन भारत के कलात्मक विलास की कहानी सुनाने के लिए आप ने जब मुझे निमंत्रण दिया है तो निश्चय ही आपने आशा की होगी कि मैं ऐसी मनोरंजक बातें बताऊंगा जिससे आप इस युग के कर्मक्लान्त जीवन में उस युग की अमीरी की सुगन्ध पा सकेंगे। शायद आपने मन ही मन आशा की होगी कि मैं पाटलिपुत्र के नागरों की रंगशाला के किसी मनोहर अभिनय की कहानी सुनाऊंगा जब नर्तकियों के नूपुर-क्वणन के साथ वीणा, वेणु और मुरज बज उठते थे, या उज्जयिनी के पौरजनों की किसी सरस जल-क्रीड़ा की कहानी सुनाऊंगा जिस में होने वाले मृदंग-घोष को मेघ गर्जन समझ कर तीरस्थित क्रीडामयूर अकारण उत्कंठित होकर रंगीन पुच्छों को आकाश मण्डल की ओर फैलाकर थिरक उठते थे, या वाराणसी के किसी शिल्पी की मरकत मणियों की उस मूर्ति की चर्चा करूंगा जो दिन और रात के भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न रंग की विचित्रता से समृद्ध हो उठती थी, या कान्यकुब्ज की किसी नगर-सभा में आयोजित उस मयूर या कमलनृत्य की बात करूंगा जिसमें कुंकुम और अबीर बिछा दिये जाते थे और नृत्य के तालों के साथ उठते, पड़ते पद-संचार मयूर या कमल की प्रति-

कृति बना देते थे। आपकी आशा उचित है और वस्तुतः ऐसा ही संकल्प लेकर चला हूँ परन्तु आप जानते हैं कि हमारा युग संदेह और अविश्वास का है और बड़े से बड़े पण्डित के वक्तव्य को सुनते समय भी लोग मन हीं मन पूछते रहते हैं कि तुम्हारी बात का प्रमाण क्या है! मेरे जैसे साधारण विद्यार्थी की बातों का तो प्रत्येक वाक्य प्रमाण-सापेक्ष माना जायगा। जब तक मैं अपने प्रत्येक वाक्य को, पुस्तकी शास्त्रार्थों के कवच से सुरक्षित न कर लूं तब तक उसके बाण-विद्ध होने की आशंका मुझे बराबर रहेगी और आप भी उसको स्वीकार करने में संशयालु बने रहेंगे। इसलिए इच्छा न रहते हुए भी मुझे अपनी बात को पुस्तक शास्त्रार्थ से पोषित करना पड़ेगा, फिर भी मैं यथासंभव इस शास्त्रार्थ को कम करने की कोशिश करूंगा। एक अन्य कारण भी है जिससे मैं पुस्तकों का आसरा नहीं छोड़ सकता। अपने वक्तव्य के लिए मैंने काव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि को ही उपजीव्य माना है। इसलिए उनकी चर्चा से मैं बच नहीं सकता, चाहूँ भी तो यह संभव नहीं है। इसीलिए जब कभी आगे चलकर आप मुझे पुस्तकी शास्त्रार्थ में उलझा देखें वहाँ लाचारी को ही प्रधान कारण समझें, पांडित्य-प्रदर्शन के लिए पुस्तकों के जंगल में घसीटना मेरा उद्देश्य नहीं है।

कला-विलास किसी जाति के भाग्य में सदा सर्वदा नहीं जुटता। उसके लिए ऐश्वर्य और समृद्धि चाहिये, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिये, सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा करने

योग्य पौरुष चाहिए। परन्तु इतना ही काफी नहीं है। उस जाति में जीवन के प्रति एक ऐसी दृष्टि सुप्रतिष्ठित होनी चाहिये जिस से पशु-सुलभ इन्द्रियवृत्ति को और बाह्यार्थों को ही समस्त सुखों का कारण न मानती हो; उस जाति की ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा बड़ी और उदार होनी चाहिये और उसमें एक ऐसा कौलीन्य-गर्व होना चाहिये जो दुनियावी सिद्धियों से बढ़कर आत्म-मर्यादा को बहुमान देता हो और जीवन के किसी क्षेत्र में असुन्दर को बर्दाश्त न कर सकता हो। जो जाति सुन्दर की रक्षा, सम्मान और पूजा करना नहीं जानती वह विलासी हो सकती है पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं होता। भारतवर्ष में एक ऐसा युग बीता है जब इसके निवासियों के प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलीन्य-गर्व था और सुंदर के रक्षण, पोषण और सम्मान का सामर्थ्य था। उस समय उन्होंने बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित किये थे, संधि और विग्रह के द्वारा समूचे ज्ञात जगत् की सभ्यता का नियंत्रण किया था और वाणिज्य और यात्राओं के द्वारा समूचे संसार के साथ आदान-प्रदान की व्यवस्था कर सकते थे। इन्हीं दिनों वे कला-विलासी थे।

मैं आशा करूंगा कि आप उस युग की कहानी सुनने के लिए जब तैयार हैं तो इस युग के सन्देहों और संघर्षों से अपने को अलग कर लेंगे। जब उस युग के साम्राज्यों और वाणिज्यों की बात हम करते हैं तो इस युग के साम्राज्यों और वाणिज्यों से

उन्हें घुला नहीं देना चाहिये। आज के साम्राज्य विशुद्ध रूप में कमजोर जातियों के शोषण पर आधारित हैं। इस युग का वाणिज्य शोषण का ही नामान्तर है। प्राचीन काल में शोषण था ही नहीं यह तो मैं नहीं कहता पर इस प्रकार जोंक-जैसा साम्राज्यवाद उस समय नहीं था; यह बात जोर देकर ही कही जा सकती है। इसीलिए मैं जब उस युग की समृद्ध सभ्यता और मनोरम कला-विलास की बात करूं तो आप आज की घिनौनी समृद्धि वाली सभ्यता की बात भूल जायँ। आप मेरा यह अनुरोध पालन करेंगे तभी उस अपूर्व रसलोक की सुगंधि पा सकेंगे जिसका आभास हमें संस्कृत के काव्य-नाटकों में मिलता है।

परन्तु मैं उस रसलोक की चर्चा करने के पहले कुछ नीरस बातों की चर्चा कर लेना आवश्यक समझता हूँ। भारतीय आचार्य और कवि कुछ ऐसे आदर्शवादी थे कि उनकी पोथियों में से काम लायक व्यावहारिक बातें खोज निकालना काफी कठिन काम है। हमेशा एक शास्त्रार्थ की आंधी के भीतर से गुजरना कुछ लोगों की ही रुचि की बात हो सकती है। साधारण मनुष्य काम की चीज चाहता है। परन्तु जैसा कि मैंने आप से शुरू में ही निवेदन कर दिया है, सन्देह और अविश्वास के इस युग में शास्त्रार्थों की आंधी का सामना अनिवार्य हो गया है। विरोधाभास यह है कि जिस नीरस विषय की चर्चा से मैं इस समय शंकित हो रहा हूँ वह विषय स्वयं रस ही है।

यह तो भारतीय साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी जानता है कि 'रस' काव्य का सर्वोत्तम उपादान है। आप किसी भारतीय विद्यार्थी से इसकी व्याख्या पूछ कर देख सकते हैं। वह छूटते ही नौ रसों का नाम गिना देगा और यदि थोड़ा भी गहराई में उतरा होगा तो अनुभाव, विभाव, संचारी भावों की व्याख्या करके आप के धैर्य को आसानी से हिला देगा। परन्तु आप अगर उस से इन स्थायी संचारी भावों के उदाहरण पूछें तो आश्चर्य के साथ लक्ष्य करेंगे कि यद्यपि उसने रस नौ गिनाये हैं तथापि उदाहरण बराबर शृंगार रस के देता जायगा। जिन पोथियों को उसने पढ़ा है उसमें भी आपको यही बात मिलेगी। वीर या शान्त रस के एकाध उदाहरण भूले भटके ही दिख जायँगे। निस्सन्देह इन ग्रंथों और ग्रंथाभ्यासियों के उद्धृत उदाहरण को देखकर आप इस नतीजे पर पहुँचेंगे कि यद्यपि सिद्धांत रूप में नौ रस माने जाते रहे हैं पर सही बात यह है कि व्यवहार में अधिकांश लोगों ने शृंगार रस को ही 'रस' माना है। यह बात सुनने में आप को शायद अच्छी न लगे पर है सच्ची। हमारे लिए यह बड़े काम की है क्योंकि हम तो शास्त्रों के सिद्धान्त की बात करने नहीं चले हैं, हम तो लोक-जीवन के व्यवहार को ही समझने के प्रयासी हैं। परन्तु थोड़ा सा पुरानी पोथियों को ढूँढ़िये तो बड़ी आसानी से समझ में आ जायगा कि नौ रसों वाली बात एक क्षेपक ही है और असल में दीर्घकाल से रस का अर्थ शृंगार ही समझा जाता रहा है। क्षेपक का भी अपना महत्व है

और उसीका प्रधान हो उठना तो निश्चित रूपसे एक विशेष मनोवृत्ति का सूचक है।

किसी कवि ने जब कहा था कि काव्य-शास्त्र के विनोद से बुद्धिमानों का काल कटता है - 'काव्य शास्त्र-विनोदेन कालोगच्छति धीमताम्'—तो उसने एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात बताई थी। भारतवर्ष का एक जमाना ऐसा गया है जब बहुत से काव्य विनोद के लिए लिखे गये थे। पुरानी पोथियों में काव्य के अनेक उद्देश्य गिनाये गए हैं—वे यश के लिए, धन के लिए, व्यवहार ज्ञान के लिये, अनिष्ट-निवारण के लिए, मोक्ष के लिए और कांता सम्मित उपदेश के लिए लिखे जाते हैं। पर यह नहीं कहा गया है कि वे विनोद के लिए या विलास के लिए भी लिखे गए हैं। परन्तु अगर ध्यान से विचार कर देखिये तो कवि को यश और धन काव्य से क्यों मिलते थे, निश्चय ही धनी लोगों से धन मिला करता होगा और साधारण जनता से यश। दोनों के ही व्यवहार में ध्यान लायक चीज जब तक न हो तब तक दोनों की ओर से सम्मानित होने का कोई हेतु नहीं है। वस्तुतः आलंकारिकों ने जो काव्य के उद्देश्य बताये हैं वह कवि को दृष्टि में रख कर, पाठक को नहीं। पाठकों की ओर से भी यदि उन्हें काव्य के उद्देश्य की बात कहनी होती तो वे निश्चय ही बताते कि काव्य दिल बहलाने के लिए, चतुर होने के लिए और नैतिक बल के दृढ़ीकरण के लिए बनते हैं। प्रस्तुत प्रसंग में हमें केवल इतने तक ही अपने को सीमित रखना है कि उस युग में मनुष्य जीवन में काव्य-

विनोद का बड़ा प्रभाव था। धनी और संभ्रान्त लोगों के अतिरिक्त अन्य बुद्धिमान लोग भी काव्य-रस का आस्वाद करते थे और वह 'रस' मुख्य रूप से शृंगार हुआ करता था। मैंने यह बात एक बार पंडितों की एक मंडली में कही थी उस समय थोड़ी नाराजगी भी प्रकट की गई थी। मुझे ऐसा लगा कि शृंगार रस को भारतीय काव्य का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपाद्य मानने को कुछ विद्वान् इसलिए अनुचित समझते थे कि उनकी दृष्टि में शृंगार रस निचली कोटि की स्त्रैण वृत्ति है। मैं आशा करता हूँ कि आपलोग इस प्रकार नहीं मानते। रस वस्तु लौकिक घटनाओं का नाम नहीं है। परन्तु मैं अपनी बात और भी विशद रूप से समझाने का मौका आगे खोज निकालूंगा। यहां मैं 'रस' शब्द की प्राचीन परंपरा का विवेचन कर लेना चाहता हूँ। विना ऐसा किये हम अपने अभिलषित रस लोक का ठीक-ठीक अन्दाजा नहीं लगा सकेंगे।

आप राजशेखर का नाम तो जानते ही हैं। ये कान्यकुब्ज के राजा महेंद्रपाल (६०२-६०७ ई०) के उपाध्याय थे और इस बात का भी सबूत है कि उक्त राजा के पुत्र और उत्तराधिकारी महीपाल के भी सभा पण्डित रहे। इनकी पत्नी अवन्तिसुन्दरी चौहान वंश की राजकन्या थी, वे पति के ही समान तीक्ष्ण बुद्धि और प्रतिभाशालिनी थीं। राजशेखर को कवि और नाटककार के रूप में बहुत पहले से ही लोग जानते थे। कुछ दिन पहले उनका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पुस्तक काव्य मीमांसा का एक

अध्याय मिला है। वड़ौदा से निकलनेवाली संस्कृत पुस्तकमाला में यह छप चुकी है। छप ही नहीं चुकी है उसके तीन संस्करण भी हो चुके हैं। काव्य-मीमांसा नाना दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रंथ है। उसमें बहुत ज्ञातव्य बातें संगृहीत हैं जो केवल काव्य के कल्प लोक के सिद्धान्त की ही खबर नहीं देती बल्कि व्यावहारिक जगत् के समाचार भी देती हैं। रस की नीरस चर्चा का आरम्भ इस सरस रचना का नाम लेकर ही हम शुरू कर रहे हैं।

राजशेखर ने काव्यमीमांसा के आरंभ में ही काव्यविद्या के अट्ठारह अंगों और उनके प्रवर्तक आचार्यों के नाम गिनाये हैं। ये अट्ठारह अंग और उनके प्रवर्तक आचार्य इस प्रकार हैं—

१. कविरहस्य के सहस्राक्ष २. औक्तिक के उक्तिगर्भ ३. रीति-निर्णय के सुवर्णनाभ ४. आनुप्रासिक के प्रचेतायन ५. यमक के चित्रांगद ६. चित्रकाव्य के चित्रांगद ७. शब्दश्लेष के शेष ८. वास्तव के पुलस्त्य ९. औपम्य के औपकायन १०. अतिशय के पराशर ११. अर्थश्लेष के उतथ्य १२. उभयालंकारिक के कुवेर १३. वैनोदिक के कामदेव १४. रूपकनिरूपणीय के भरत १५. रसाधिकारिक के नंदिकेश्वर १६. दोषाधिकरण के धिषण १७. गुणोपादानिक के उपमन्यु १८. औपनिषदिक के कुचमार।

इस प्रकार अट्ठारह अंगों और आचार्यों की बात प्रायः सभी शास्त्र करते हैं। अट्ठारह की संख्या भारतीय साहित्य में बहुत लोकप्रिय है। पुराण अट्ठारह हैं, स्मृतियाँ अट्ठारह हैं,

महाभारत में अट्ठारह पर्व हैं, और गीता में अट्ठारह अध्याय हैं। ज्योतष के प्रवर्तक अट्ठारह आचार्यों और इसी प्रकार अन्य विषयों के भी अट्ठारह आचार्यों का उल्लेख मिल जाया करता है। जब राजशेखर की काव्यमीमांसा का उद्धार हुआ तो देखा गया कि काव्यविद्या के भी अट्ठारह ही आचार्य हैं। राजशेखर ने अपने इस वृहद् ग्रन्थ को अट्ठारह ही खण्डों में पूरा किया था। दुर्भाग्यवश इसका पहला खण्ड कविरहस्य ही अब तक उपलब्ध हो सका है। इसमें भी उन्होंने अट्ठारह ही अध्याय रखे थे। वहुत दिनों तक पंडितों में यह जल्पना-कल्पना चलती रही है कि राजशेखर की सूची कल्पना-प्रसूत है या किसी अब तक अज्ञात खोई हुई काव्यपरंपरा के आधार पर लिखी गई है। जल्पना-कल्पना अब भी जारी है। ऐसा जान पड़ता है कि उक्त सूची का किसी परम्परा पर आधारित होना ही अधिक युक्ति-संगत है। इसे कल्पना-प्रसूत सिद्ध करने के लिए जो युक्तियाँ दी जाती हैं, उनमें मुख्य यह है कि इसके नाम अधिकांश में अश्रुतपूर्व और पौराणिक हैं। फिर इसमें राजशेखर ने अनुप्रास भिड़ाने की कोशिश की है, यह भी उसके काल्पनिक होने का सबूत है। वस्तुतः ये दोनों दलीलें लचर हैं। इनमें कितने ही नाम तो निश्चयपूर्वक पहले के जाने हुए और ऐतिहासिक हैं। जो अभी तक नहीं जाने हुए हैं; उनके लिए अनुसंधान की जरूरत है। वात्स्यायन के काम-सूत्र में नंदिकेश्वर, सुवर्णनाभ और कुचुमार का नाम पाया जाता है। इस ग्रंथ के आरंभ में

ही बताया गया है कि प्रजापति ने प्रजाओं की सृष्टि करके उनकी स्थिति के लिए धर्म, अर्थ और काम, इन त्रिवर्गों के साधन के लिए एक लाख आध्यायों का ग्रन्थ रचा। उसके एक-एक वर्ग को अलग-अलग करके क्रमशः मनु, बृहस्पति और महादेवानुचर नंदी ने धर्म, अर्थ और काम के ग्रन्थों की रचना की। नंदी का ग्रन्थ हजार अध्यायों का था। उसे औद्दालकि श्वेतकेतु ने पाँच सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। उसे भी बाभ्रव्य पांचाल ने डेढ़ सौ अध्यायों में संक्षिप्त किया। इसमें सात अधिकरण थे—साधारण, सांप्रयोगिक, कन्यासम्प्रयुक्तक, भार्याधिकारिक, पारदारिक, वैशिक और औपनिषदिक। इस सातों को निम्नलिखित आचार्यों ने अलग-अलग संपादित किया; वैशिक का सम्पादन दत्तक ने पाटलिपुत्र की वेश्याओं के अनुरोध पर किया था :—

आचार्य अधिकरण	आचार्य अधिकरण
१ चारायण—साधारण	४ गोनर्दीय—भार्याधिकारिक।
२ सुवर्णनाभ—सांप्रयोगिक	५ गोणिकापुत्र—पारदारिक।
३ घोटकमुख-कन्यासंप्रयुक्तक	६ दत्तक—वैशिक।

७ कुचुमार—औपनिषदिक

इस सूची को देखने से ज्ञान पड़ता है कि कामशास्त्र के प्रवर्तक कई आचार्य काव्यविद्या के भी प्रवर्तक हैं। साम्प्रयोगिक के आचार्य सुवर्णनाभ रीतिनिर्णय के भी प्रवर्तक हैं और कुचमार या कुचुमार दोनों विद्याओं के औपनिषदिक अधिकरणों के प्रवर्तक हैं। सम्पूर्ण कामशास्त्र के आदि संक्षेपक नंदिकेश्वर

(महेश्वरानुचर नंदी) काव्यविद्या के रसाधिकारिक के प्रवर्तक हैं। हाल ही में नंदिकेश्वर नामक एक आचार्य का अभिनय-दर्पण भी उपलब्ध हुआ है। राजशेखर का मतलब किस नंदिकेश्वर से है, इसका विवेचन आगे किया जायगा।

भरत का रूपक-निरूपण तो प्रसिद्ध ही है यह सब देखते हुए यह तो कहना अनुचित ही जान पड़ता है कि राजशेखर की सूची काल्पनिक है। ऐसा जान पड़ता है कि उन्होंने किसी प्राचीन परम्परा को ही अपना आधार माना है। ध्यान देने की बात यह है कि राजशेखर के काव्य-विद्यांगों में ध्वनि का नाम नहीं है। पुरानी अलंकार शास्त्रीय पोथियों में ध्वनि या व्यंग्यार्थ की कोई चर्चा नहीं है। नवीं शताब्दी के आरंभ में आनंदवर्धन नामक एक शक्तिशाली पण्डित ने ध्वन्यालोक नामक पुस्तक लिखी और यह स्थापित किया कि ध्वनि ही काव्य का आत्मा है। विना ध्वनि के काव्य निर्जीव हो जाता है। अलंकार या रीति उसे प्राणवान नहीं बना सकते। हम इसे भी आगे समझने का प्रयास करेंगे। अब यदि यह सूची काल्पनिक होती तो ध्वनि का नाम इसमें जरूर आता क्योंकि राजशेखर के काल में यह सम्प्रदाय काफी प्रबल हो चुका था। यह कहना ठीक नहीं कि या तो राजशेखर को ध्वनि का पता नहीं होगा या वे उसके विरोधी होंगे क्योंकि काव्यमीमांसा (पृ० १६) में किसी आनंद नामक आचार्य का नाम आया है जो वस्तुतः आनंदवर्धन ही हैं। इस बात को काव्यमीमांसा (तृतीय संस्करण, पृ० १५६) के विद्वान्

सम्पादकों ने सिद्ध कर दिया है। राजशेखर ध्वनि-मत के विरोधी होंगे। इस कथन का आसानी से खण्डन किया जा सकता है। हेमचन्द्र के काव्यानुशासन में एक श्लोक राजशेखर के नाम का है जिसमें कहा गया है कि काव्यशास्त्राभिनिवेशमूलक अति गंभीर ध्वनि से आनंदवर्धन ने किसका आनंद-वर्द्धन नहीं किया। श्री राजस्वामी शास्त्री शिरोमणि का अनुमान है कि औक्तिक नामक अङ्क में राजशेखर ने वाच्य, लक्ष्य, गौण और व्यंजक शब्दों की चर्चा की होगी। इसी अङ्क में उन्होंने ध्वनि का विचार किया होगा परन्तु जब तक भारतीय काव्य-शास्त्र के सौभाग्य से उक्त अङ्क नहीं मिल जाता तबतक शास्त्री जी के अनुमान के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु राजशेखर ने काव्यमीमांसा (पृ० १८) में जिस 'उक्ति-कवि' का उदाहरण दिया है उस पर से 'उक्ति' शब्द का ऐसा अर्थ नहीं किया जा सकता जैसा कि शास्त्री जी ने किया है। स्वयं शास्त्री जी ने उक्त उदाहरण पर टिप्पणी करते हुए बताया है कि यहां उक्ति से सौंदर्यपूर्ण उपस्थापन का तात्पर्य हैं। इसके लिए कवि को समाधि नामक गुण का आश्रय ग्रहण करना चाहिये (पृ० १८६)। ऐसा जान पड़ता है कि ऊपर की सूची किसी अति प्राचीन काल से चली आती हुई परम्परा से ली गई है। यह परम्परा ध्वनि-सम्प्रदाय के जन्म से पहले की है।

इस प्रसंग में और भी एक ध्यान देने की बात है। राजशेखर के काव्याधिकरणों के साथ रुद्रट के काव्यांगों का बहुत कुछ मेल

दिखाया जा सकता है। कविरहस्य, औक्तिक और रीतिनिर्णय के बाद राजशेखर चार शब्दालंकारों और चार ही अर्थालंकारों की चर्चा करते हैं। ये अलंकार इस प्रकार हैं—(१) अनुप्रास यमक, यमकचित्र और शब्दश्लेप—शब्दालंकार तथा (२) वास्तव औपम्य, अतिशय और अर्थश्लेप—चार अर्थालंकार। नवाँ उभयालंकार भी इसी प्रसंग में याद कर लिया जा सकता है। अब रुद्रट के शब्दालंकार पाँच हैं। पहला वक्रोक्ति और बाकी हू-ब-हू वे ही जो राजशेखर के हैं (पृ० १३)। इसी प्रकार अर्थालंकार भी रुद्रट के हू-ब-हू वही हैं जो राजशेखर के। उन्हीं नौ अलंकारों के अनेकानेक भेद कल्पित करके रुद्रट ने अपने ग्रन्थ का विस्तार किया है। शब्दालंकारों की चर्चा करने के पहले रुद्रट ने अपने ग्रन्थ में कविरहस्य (प्रथमाध्याय) वाक्य और शब्दभेद तथा रीतियों (२।१-४) का यथाक्रम वर्णन किया है। अब अगर शुरू से ही मान लिया जाय कि राजशेखर और रुद्रट का क्रम एक ही है, जो निःसन्देह है, तो औक्तिक नामक अधिकरण वही हो सकता है जिसे रुद्रट ने वाक्य-शब्द-भेद कहा है। इस प्रकार भी औक्तिक में ध्वनि का अन्तर्भाव कष्ट-कल्पित ही जान पड़ता है। पर एक और भी संभावना है; शायद वक्रोक्ति नामक अलंकार को राजशेखर ने औक्तिक कहा हो। क्योंकि जब आठ अलंकारों की चर्चा हू-ब-हू मिल जाती है तो कोई कारण नहीं कि वक्रोक्ति को त्याज्य समझा गया हो। अब इन ग्यारह-बारह अङ्गों का रुद्रट के साथ

मिल जाना ही इस बात का पक्का प्रमाण है कि राजशेखर की सूची निराधार और काल्पनिक नहीं है। रुद्रट के ग्रन्थों में रस, गुण और दोषों की भी चर्चा है। राजशेखर ने रुद्रट का अनुकरण किया होगा, ऐसा अनुमान करने की अपेक्षा यह अनुमान करना अधिक उचित जान पड़ता है कि दोनों ने एक सामान्य परम्परा से ही अपने अपने ढंग पर काव्यांगों को ग्रहण किया था।

काव्यविद्याओं के सिलसिले में उक्ति, रीति, शब्दालंकार अर्थालंकार, उभयालंकार, गुण और दोष आदि बातें अलंकार-शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को जानी हुई हैं। यहाँ हमें उनके विषय में कुछ कहने की इच्छा नहीं है। चार बातें राजशेखर ने जो अधिक बताई हैं वे भी नई-सी दिखने पर भी वस्तुतः इस शास्त्र के विद्यार्थियों की अपरिचित नहीं हैं। ये चार बातें हैं— वैनोदिक, रूपकनिरूपणीय, रसाधिकारिक और औपनिषदिक। जो बात इसमें नई है वह यह कि राजशेखर ने इन अठारहों को बराबर का दर्जा दे दिया है जब कि अलंकारिकों ने कभी इस अंग को और कभी उस अंग को प्रधान और अन्यान्य को गौण बताया है। इन समस्त अंगों को—जिनमें कई-कई को एक ही अङ्ग में अन्तर्भुक्त किया जा सकता था—अलग-अलग स्वतंत्र अंग मान लेना ही इस परम्परा की प्राचीनता का प्रमाण है। इसीलिए जब हम अपनी चर्चा इस सूची के साथ शुरू करते हैं तो ऐतिहासिक दृष्टि से गलत रास्ते पर नहीं हैं अपनी चर्चा आरम्भ

करने के पहले राजशेखर की गिनाई हुई नई-सी लगनेवाली बातों से हमारा परिचय हो जाना आवश्यक है।

वैनोदिक नाम ही विनोदों से सम्बन्ध रखता है। कामशास्त्रीय ग्रन्थों में मद्यपान की विधियाँ, उद्यान और जलाशय आदि की क्रीड़ाएँ, मुर्गे और बटेरों (लाव) आदि की लड़ाइयाँ, द्यूत-क्रीड़ाएँ, यक्षरात्रियाँ अर्थात् सुखरात्रियाँ, कौमुदीजागरण अर्थात् चाँदनी रात में जगकर क्रीड़ा करना आदि को वैनोदिक कहा है (कामसूत्र १-४)। इस अंग के प्रवर्तक कामदेव हैं इस पर पंडितों ने अनुमान लगाया है कि कामशास्त्रीय विनोद और काव्यशास्त्रीय विनोद एक ही वस्तु होंगे। परन्तु कामदेव नामक पौराणिक देवता और वैनोदिक शास्त्र-प्रवर्तक कामदेव नामक आचार्य एक ही होंगे, ऐसा अनुमान करना ठीक नहीं भी हो सकता। राजा भोज के सरस्वतीकंठाभरण नामक बृहत् अलंकार ग्रंथ (५।९३-९६) पर से यह अनुमान और भी पुष्ट होता है कि कामोद्दीपक क्रियाकलाप वस्तुतः ही वैनोदिक समझे जाते होंगे। शारदातनय के भावप्रकाश में दोनों ऋतुओं के लिए जो विलास-सामग्री बताई गई है वह परम्परा बहुत दूर तक ग्वाल और पद्माकर तक आकर अपने चरम विकास पर पहुँचकर समाप्त हो गई है। यहाँ यह कह रखना आवश्यक है कि काव्यों को केवल काव्यशास्त्र ने ही नहीं प्रभावित किया है, कामसूत्र ने भी किया है, अतः इन वैनोदिक सामग्रियों का कामशास्त्र से मिलना न तो आश्चर्य का कारण है और न कामशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण

और काव्यशास्त्रीय वैनोदिक प्रकरण की एकता की ही निशानी है। कादम्बरी (कथामुख) में बाणभट्ट ने शूद्रकवर्णना के प्रसंग में कुछ ऐसे काव्य-विनोदों की चर्चा की है जिनके अभ्यास से राजा कामशास्त्रीय विनोदों के प्रति वितृष्ण हो गया था। हमारा अनुमान है कि ऐसे ही विनोद कावयशास्त्र के विनोद कहे जा सकते हैं। वे इस प्रकार हैं—वीणा-मृदंग आदि का बजाना, मृगया (शिकार), विद्वत्सेवा, विदग्धों या रसिकों की मण्डली में काव्य-प्रबन्धादि की रचना करना, आख्यायिका आदि का सुनना, आलेख्यकर्म या चित्रकारी, अक्षर-च्युतक, मात्रा-च्युतक, विंदुमती, गूढ़-चतुर्थ-पाद-प्रहेलिका आदि। शूद्रक इन्हीं विनोदों से काल-यापन करता हुआ "वनिता-संभोग-पराङ्मुख" हो सका था। इनके लक्षण तो चित्रकाव्य के प्रकरण में दिये गए होंगे पर इनके व्यवहार के लिए देश-काल-पात्र आदि की योग्यता का वर्णन इस वैनोदिक प्रकरण में किया गया होगा। उन दिनों इस बात का बड़ा महत्त्व था। दण्डी ने (काव्यादर्श १-१०५) कीर्त्ति प्राप्त करने की इच्छा रखनेवाले कवियों को श्रमपूर्वक सरस्वती की उपासना करने की व्यवस्था दी है क्योंकि कवित्व शक्ति के दुर्बल होने पर भी परिश्रमी आदमी विदग्ध गोष्ठियों को जानकर विहार कर सकता था।

रूपकनिरूपण के आचार्य भरत हैं, इस विषय में कोई सन्देह नहीं क्योंकि इनका लिखा हुआ 'भारतीय नाट्य शास्त्र' अपने विषय की पहली पुस्तक है। रूपकों के निरूपण के लिए इससे

अधिक बता सकने वाली पुस्तक दूसरी नहीं है। परन्तु रूपक-निर्णय के सिलसिले में भरत ही सब से प्रथम जाने हुए आचार्य हैं जिन्होंने 'रस' की इतनी विस्तृत और सुंदर विवेचना की है। बाद के आचार्यों ने रस पर विचार करते समय एक स्वर से भारतीय नाट्यशास्त्र की आर्या को ही प्रमाण मानकर विवेचना को आगे बढ़ाया है। भरत मुनि ने (ना० शा० ६, १०) रस, भाव, अभिनय, धर्मी, वृत्ति और प्रवृत्तियों, सिद्धि, स्वर, आतोद्य, गान और रंग को लेकर ही अपना वृहत् शास्त्र रचा है। ऐसी हालत में भरत को ही रस का आदि प्रवर्तक मानना उचित था। फिर भी राजशेखर ने भरत को रूपकनिरूपण का आचार्य मानकर भी उन्हीं को जो रस का आदि प्रवर्तक नहीं माना, इसका कोई-न-कोई कारण होना चाहिये। भरत ने (ना० शा० ६, १५ १६) आठ नाट्यरसों का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन आठ नाट्य-रसों (शृंगार-हास्य-करुण-रौद्र-वीर-भयानक-वीभत्स-अद्भुत) को महात्मा द्रुहिण ने कहा है। द्रुहिण ब्रह्मा भी हो सकते हैं और कोई अन्य आचार्य भी। ऐसा जान पड़ता है कि यहाँ ग्रंथकार का मतलब ब्रह्मा से ही है। फिर भी इस विषय में कोई सन्देह नहीं कि भरत को अपने पूर्ववर्ती किसी 'रस' संबंधी ग्रंथ के आचार्य की जानकारी थी। बल्कि यों कहना चाहिये कि 'रस' की कोई परम्परा थी जिसे अपने ग्रंथ में भरत ने अन्तर्भुक्त कर लिया। भारतीय नाट्यशास्त्र के षष्ठ और सप्तम अध्याय रसों और भावों की व्याख्या हैं। इन दो अध्यायों में जितने

आनुवंश्य या परम्पराप्राप्त श्लोकों को ग्रन्थकार ने संग्रह किया है उतने सारे ग्रंथ में भी नहीं हैं। इसीसे स्पष्ट है कि इन अध्यायों की सामग्री उन्होंने किसी अन्य मूल से ग्रहण की थी।

अब प्रश्न है कि इस परम्परा के प्रवर्तक आचार्य कौन थे? राजशेखर से पता चलता है कि ये नंदिकेश्वर थे। नंदिकेश्वर का नाम नाना भांति से हमारे सामने आया है। भिन्न-भिन्न ग्रंथों में कभी उन्हें संगीत का, कभी कामशास्त्र का, कभी तंत्र का और कभी अभिनय का आचार्य माना गया है। 'पञ्चसायक' नामक कामशास्त्रीय ग्रंथ में नन्दीश्वर नामक एक आचार्य का उल्लेख है और 'रतिरहस्य' में तो नंदिकेश्वर नाम ही आता है। इस अध्याय के शुरू में ही बताया गया है कि कामसूत्र में लिखा है कि प्रजापति के कामशास्त्रीय अध्याय का संकलन महादेवानुचर नंदी ने किया था। कामसूत्र की जयमंगला टीका में कहा गया है कि महादेव उमा के साथ देवताओं के एक हजार वर्ष तक काम-सुख का अनुभव करते रहे। वासगृह के द्वार पर स्थित नंदी ने इसीलिए कामसूत्र का प्रवचन किया। यदि उक्त टीका की बात को प्रमाण समझें तो नंदी पौराणिक देवता हैं; जिस अर्थ में हम साधारणतः 'शास्त्रकार आचार्य' को ग्रहण करते हैं, वह वे नहीं थे। परन्तु बहुत से ऐतिहासिक आचार्यों को पौराणिक कल्पनाओं में ग्रथित किया गया है, इसलिए हम ऐसा समझ सकते हैं कि नंदीश्वर या नंदिकेश्वर नाम के कोई शास्त्रकार जरूर थे जिन्हें नाम-साम्य के कारण पौराणिक देवता मान

लिया गया। नंदिकेश्वर की लिखी एक अभिनय-पुस्तक भी मिली है। यह पुस्तक सन् १८७४ में पूना से सम्पादित हुई थी और अब नये सिरे से अनेक उपयोगी टिप्पणियों के साथ श्री डा० मनोमोहन घोष ने कलकत्ते से प्रकाशित की है। अभिनय-दर्पण, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, अभिनय की पुस्तक है। इसमें हाथ, पैर, मुख, दृष्टि आदि की विविध मुद्राओं का वर्णन और विनियोग (अर्थात् किस रस के अभिनय के समय कौन-सी मुद्रा का व्यवहार करना चाहिये) बताया गया है। वेवर के इतिहास से एक गान सम्बन्धी पुस्तक 'नंदिकेश्वर मत-तालाध्याय' का भी पता चलता है। इस प्रकार नंदिकेश्वर का नाम तीन विषयों के साथ प्रधान रूप से जड़ित है—गान, नाच और काम-शास्त्र। कुछ पंडितों का विश्वास है कि काम-शास्त्रीय आचार्य नंदिकेश्वर ही प्रधान हैं। अभिनय और गान काम-शास्त्रीय विनोद के ही अङ्ग हैं। इन पण्डितों ने कहा है कि राज-शेखर द्वारा निर्दिष्ट रसाधिकरण के आचार्य नंदिकेश्वर वस्तुतः कामशास्त्र के ही आचार्य हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नाट्य-शास्त्र में जब तक 'रसाधिकरण' निपुण भाव से गूँथ नहीं दिया गया था तब तक 'रस' शब्द का अर्थ शृंगार-रस ही था। भरत जब कहते हैं कि नाट्य में आठ रस होते हैं तो इसका अर्थ यह लगाया जाता है कि काव्य में नौ या दस रस होते हैं। परन्तु ऊपर की व्याख्या को ध्यान में रखकर अगर इस कथन का अर्थ किया जाय तो इसका अर्थ यह होता है कि अन्यत्र रस एक या

दो हो सकते हैं पर नाट्यशास्त्र में आठ होते हैं। ऐसा अर्थ समझने के पक्ष में प्रबल युक्ति यह है कि काव्य में बहुत बाद में चलकर रसों को अन्तर्भुक्त किया गया है। प्राचीन आचार्यों में दण्डो और भामह रस की चर्चा करते ही न हों, ऐसा तो नहीं है, पर वे उसे वक्रोक्ति या स्वभावोक्ति आदि अलंकारों से अधिक महत्त्व नहीं देते। फिर ऐसा एक भी काव्य का विवेचन आलंकारिक नहीं है जो भरत के पहले हुआ हो। सब पर भरत का प्रभाव है। ऐसी हालत में यह कैसे मान लिया जा सकता है कि भरत ने काव्य के रसों को दृष्टि में रखकर ही लिखा था कि 'अष्टौ नाट्ये रसाः स्मृता' ? जब काव्य के नौ या दस रस उनके सामने थे ही नहीं तो निश्चय ही किसी और शास्त्र के 'रस' से नाट्य रस को अलग करने के लिए उपर्युक्त बात लिखी थी। यह रस क्या था ? सम्भवतः यही नंदिकेश्वर का रसराज शृंगार रस था। बड़ी विचित्र बात यह है कि शृंगार रस को ही 'आदिरस' कहा जाता है। वाणभट्ट ने कादम्बरी में 'रसेन शय्यां स्वयमभ्युपागता' श्लोक में 'रस' शब्द का एक अर्थ शृंगार रस ही समझा है।

यह ध्यान देने की बात है कि यद्यपि भारतीय नाट्यशास्त्र के प्रभाववश काव्य नाट्यशास्त्रीय आठ रसों के साथ एकाध अन्य रस को मिलाकर रसों की संख्या बढ़ा ली गई, परन्तु समूचे काव्य-साहित्य में शृंगार रस का ही प्राधान्य बना रहा। ऐसे अनेक आचार्य हुए जो एकमात्र शृंगार-रस को ही रस

समझते रहे। रुद्रभट्ट का शृंगारतिलक ऐसा ही ग्रन्थ है। भोजराज ने अपने सरस्वतीकंठाभरण में यद्यपि दस रस माने हैं, पर अधिक जोर शृंगार पर ही दिया है। विद्याधर (एकावली पृ० ९८) और कुमारस्वामी की गवाही से हम जान सकते हैं कि अपने शृंगार-प्रकाश में राजा भोज ने शृंगार को ही एकमात्र रस माना था। शारदातनय का भावप्रकाश, शिंगभूपाल का रसार्णव और भानुदत्त की रस-मंजरी और रसतरंगिणी ऐसे ही ग्रंथ हैं। यह परम्परा बड़ी दूर तक चलती रही। हिन्दी के रीतिकाल में यह अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची। केशवदास की रसिकप्रिया, तोष की सुधानिधि; चिन्तामणि का कविकुल-कल्पतरु, मतिराम का रसराज, रसलीन के रसप्रबोध और अंग-दर्पण, देव की प्रेमचन्द्रिका और रसविलास, भिखारीदास का रसशृंगार और शृंगारनिर्णय और पद्माकर का जगद्विनोद आदि ग्रंथ शृंगार की महिमा प्रतिष्ठित करने में अतुलनीय हैं। उत्तरकालीन व्रजभाषा का साहित्य शृंगार रस का साहित्य है।

इस विवेचना से सिद्ध होता है कि भरत के पूर्ववर्ती काल में 'रस' शब्द का अर्थ शृंगार ही समझा जाता था और यद्यपि परवर्ती आचार्यों के शक्तिशाली ग्रंथों ने इस अर्थ को बहुत-कुछ दबा दिया था, पर वह बिल्कुल लुप्त कभी नहीं हुआ। कवियों का एक समूह बराबर इस रस को ही एकमात्र या प्रधान रस मानता रहा। हजारों वर्षों की सुदीर्घ परम्परा में इस समूह के कवियों की कभी भी कमी नहीं हुई।

इस प्रकार राजशेखर ने जिस अट्ठारह अंगवाली काव्य-विद्या का उल्लेख किया है उसकी विवेचना से हम इस नतीजे पर पहुँचे कि काव्य के भिन्न-भिन्न अंग किसी युग में यद्यपि समान भाव से महत्त्वपूर्ण माने जाते थे फिर भी आदि रस या शृंगार का स्थान उसमें अतुलनीय था। किस प्रकार काव्य में 'रस' प्रधान पद अधिकार सका और यह विश्वास किया जाने लगा कि रस ही काव्य की आत्मा है और जहाँ रस है वहीं काव्य है और जहाँ रस नहीं है, वहां सब होते हुए भी काव्यत्व नहीं है, यह एक लम्बी कहानी है। हमारी यह इच्छा नहीं है कि 'रस' के सम्बन्ध में जो अति सूक्ष्म विचार किये गए हैं उन्हें यहाँ उपस्थित करूं। हमने इस उद्देश्य से इस अध्याय का आरम्भ नहीं किया था। हमारा उद्देश्य प्राचीन आचार्यों की विशेष दृष्टि को समझना था। उस उद्देश्य को सामने रखकर ही हम अब तक की बातें करते रहे हैं। कुछ थोड़ी सी और अवान्तर बातों का उल्लेख किये बिना हमारा उद्देश्य ठीक-ठीक स्पष्ट नहीं होगा; इसीलिए काव्यशास्त्रियों के सबसे प्रसिद्ध और प्रिय विषय 'ध्वनि' की चर्चा अत्यन्त संक्षेप में करके हम आगे बढ़ेंगे। बिना इस सिद्धान्त के समझे 'रस' का वास्तविक महत्त्व समझना कठिन है। यह तो ऊपर ही बताया जा चुका है कि जिन दिनों राजशेखर अपनी काव्य-मीमांसा लिख रहे थे उन दिनों आनन्दवर्धन के संप्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी और वे आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठित इस सिद्धान्त की महिमा स्वीकार भी कर चुके थे।

रस क्या है ?

सन् ईसवी की नवीं शताब्दी के मध्यभाग में आनन्दवर्धन का प्रादुर्भाव हुआ था। उनका ग्रंथ ध्वन्यालोक है, जिसमें कुछ कारिकाएँ और उनके ऊपर वृत्तियां लिखी हुई हैं। पण्डितों में इस विषय में मतभेद है कि कारिका और वृत्ति दोनों के लेखक आनन्दवर्धन ही हैं या वे केवल वृत्तियों के लेखक हैं। साधारणतः विश्वास किया जाने लगा है कि केवल वृत्तियां ही आनन्दवर्धन की लिखी हुई हैं और कारिकाएँ किसी अन्य आचार्य—शायद उनका नाम सहृदय था—की लिखी हुई हैं। इस पुस्तक में आनन्दवर्धन को जब मैं ध्वनि का प्रतिष्ठाता आचार्य कहता हूँ तो उससे यह नहीं समझना चाहिये कि 'सहृदय' नामक किसी सन्दिग्ध आचार्य के प्रति मैं किसी तरह का असम्मान दिखाना चाहता हूँ। यदि वे सचमुच ही कारिकाओं के लेखक हैं तो उन्हें ही ध्वनि का प्रतिष्ठाता मानना चाहिये। नाना कारणों से मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कारिकाएँ और वृत्तियां दोनों ही आनन्दवर्धन की ही लिखी हुई हैं। परन्तु वस्तुतः ध्वनि का सिद्धान्त कारिकाकार से भी प्राचीन है क्योंकि कारिकाओं के आरम्भ में ही कहा गया है कि यह सिद्धान्त ('काव्य का आत्मा ध्वनि है') पूर्वाचार्यों का कहा हुआ है—

'काव्यस्यात्मा ध्वनिरितिबुधैर्यः समाम्नात पूर्वः,

फिर भी इसमें कोई सन्देह नहीं कि इस मत को इतने युा· गर्ण ढंग से उपस्थित करने का श्रेय आनन्दवर्धन को ही है। उससे भी अधिक इस ग्रंथ के टीकाकार अभिनव गुप्त को। और वाग्देवता के अवतार कहेजानेवाले मम्मटाचार्य ने इन दोनों के मत का समर्थन करके इस सिद्धान्त को इतना सुदृढ़ बना दिया कि बाद में किसी को इस सिद्धांत के विषय में कोई संदेह ही नहीं हुआ। निस्सन्देह ध्वनि-सम्प्रदाय का काव्य-विवेचन समस्त जगत् के सौकुमार्य-विवेचन शास्त्र में अद्वितीय महिमा का अधिकारी है।

शब्द की तीन वृत्तियां या शक्तियां हैं—अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। अभिधा शब्द के कोप-व्याकरण सम्मत अर्थ को प्रकट करती है। इस अर्थ को अभिधेय या वाच्य अर्थ कहते हैं। जैसे गंगा शब्द का अर्थ जलप्रवाह-विशेष या एक नदी है। घोप शब्द का अर्थ घर है। पर कभी-कभी ऐमा प्रयोग किया जाता है जब कि अभिधा-वृत्ति काम नही कर सकती। जैसे यदि कहा जाय कि 'वह पठान बैल है' तो स्पष्ट ही यहां पठान और बैल की एकता के समझने में बाधा पड़ेगी। पठान आदमी हो सकता है, बैल नहीं। फिर भी हम यह अर्थ समझ लेते हैं कि पठान बैल के समान मूर्ख है। इस अर्थ का ज्ञान शब्द की लक्षणावृत्ति से होता है और इस अर्थ को लक्ष्य अर्थ कहते हैं। अब यह तो स्पष्ट ही है कि बैल का अर्थ मूर्ख किया गया है क्योंकि बैल और मूर्खता में सम्बन्ध है। यदि यह सम्बन्ध नहीं होता तो बैल का अर्थ कभी मूर्ख नहीं हो सकता था। 'पठान

बैल है' का अर्थ कभी भी 'पठान तैराक है' नहीं हो सकता, क्योंकि बैल और तैराकपन का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसीलिए लक्ष्यार्थ सदा वाच्य से संबद्ध होता है। परन्तु मूर्ख न कहकर 'बैल' कहनेवाले का कोई-न-कोई प्रयोजन होता है। वह पठान को इतना अधिक मूर्ख कहना चाहता है कि उसकोआदमी की श्रेणी में रखना ही नहीं चाहता। यह प्रयोजन अर्थात् पठान की अतिशय मूर्खता' कह कर नहीं बताई जाती। वह ध्वनित होता है। ऐसा हो सकता है कि लक्षणा केवल रूढ़ि के पालनार्थ ही हो। जैसे किताब का पन्ना। 'पन्ना शब्द का मूल अर्थ पर्ण या पत्ता है। जब किसी ज़माने में पत्तों पर पुस्तकें लिखी जाती थीं तो उनके पन्ने ठीक ही पत्ते कहे जाते थे। अब वह 'पुस्तक के पृष्ठ' के अर्थ में रूढ़ हो गये हैं। फिर भी यहाँ भी वाच्य अर्थ से लक्ष्य अर्थ का सम्बन्ध है ही। तो यह लक्षणा भी शब्द के सम्पूर्ण व्यवहारों के लिए काफी नहीं है। ऊपर जिस प्रयोजन की चर्चा की गई है वह न तो लक्ष्य अर्थ है और न वाच्य ही। यह व्यंग्य अर्थ है और इस अर्थ को सिद्ध करने के लिए शब्द की एक तीसरी शक्ति व्यञ्जना की जरूरत है। काव्य-शास्त्रियों के सिवा और कोई भी शास्त्रकार इस तीसरी वृत्ति को नहीं स्वीकार करते। दीर्घ व्यापारवादियों के मत से शब्द की केवल एक ही वृत्ति है—अभिधा। जैसे एक ही बाण योद्धा का कवच, चर्म और हड्डी बेध कर निकल जाता है, वैसे ही एक ही वृत्ति उन तीनों अर्थों का बोध करा देती है, जिसे ऊपर अनेक नाम दिए गए हैं।

मीमांसकों के अभिहितान्वयवादी दार्शनिकों का सिद्धान्त था कि वाच्य शब्दों के गठन में ही एक तात्पर्य नामक शक्ति है जो सभी अर्थों को प्रकट कर देती है। अन्विताभिदानवादी इस तात्पर्य-वृत्ति की भी जरूरत नहीं समझते। वे शब्दों में ऐसी शक्ति को स्वीकार करते थे जो सम्पूर्ण अर्थ को प्रकट करने के लिए अन्य शब्दों के साथ स्वतः सम्बन्ध स्थापित करती है। कुछ न्याय-दर्शन के अनुयायी काव्य-शास्त्री अनुमान द्वारा ही सभी अर्थों को जान लेना सम्भव मानते थे। मम्मटाचार्य ने अपने काव्य-प्रकाश में इन एक-एक के मत का निपुण भाव से खण्डन करके 'ध्वनि' सिद्धान्त का जोरदार समर्थन किया है।

ध्वनिकार कहते हैं कि वाक्य के अर्थ दो प्रकार के होते हैं, वाच्य और प्रतीयमान। जिस प्रकार रमणी के शरीरावयवों के अतिरिक्त एक दूसरी ही कोई वस्तु लावण्य रूप से प्रकाशित होती है उसी प्रकार महाकवियों की वाणी में वाच्य अर्थ के अतिरिक्त एक दूसरा ही प्रतीयमान अर्थ होता है। * यह प्रतीय-मान या ध्वनित अर्थ अनेक बार वाच्य अर्थ के एकदम उल्टा जा सकता है। एक उदाहरण लिया जाय। कोई नायिका किसी धार्मिक से, जो नित्य एकान्त कुञ्ज में पुष्पचयन करने जा कर, उसके प्रिय से मिलन में विघ्न उपस्थित किया करते थे, कहती है—'हे धार्मिक, तुम अब निश्चिंत होकर वहाँ घूम सकते हो।

---

* प्रतीयमानः पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनां
यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्य मिवाङ्गनासु

वह जो कुत्ता था उसे गोदावरी तटवासी दृप्त' सिंह ने मार डाला—

मम धम्मिअ वीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण।
गोला णई कच्छ कुडङ्ग वासिणा दरि असीहेण॥

श्लोक में जिस कुत्ते की चर्चा है वह इसी नायिका या इसके प्रिय का कुत्ता था। धार्मिक सज्जन को देखकर वह भोंका करता था और उनके पुष्प-चयन में विघ्न उत्पन्न करता था। अब इस श्लोक में जो कहा गया है कि 'हे धार्मिक, तुम अब निश्चिन्त होकर भ्रमण करो' उसका असली अर्थ यह है कि 'अब तुम उधर हर्गिज न जाना' क्योंकि अब तक तो वहाँ कुत्ता था, अब सिंह है! अब जहाँ तक वाच्यार्थ का सम्बन्ध है, वह विधि को ही बताता है, निषेध को नहीं। 'घूमो' का अर्थ घूमो है, 'मत घूमो, एकदम नहीं। फिर भी यहाँ अर्थ मत 'घूमो' यही है। लक्षणा से यह अर्थ नहीं निकल सकता। क्योंकि लक्षणा के लिए मुख्य अर्थ में बाधा होना जरूरी है। 'पठान बैल है' इस वाक्य में बैल के मुख्य अर्थ में बाधा पड़ी थी क्योंकि पठान आदमी है, बैल नहीं। इसीलिए वहां लक्षणा संभव थी। यहां कैसे संभव होगी? यह भी नहीं कहा जा सकता कि अभिधा नामक वृत्ति से ही, दीर्घ व्यापारवादियों की युक्ति के अनुसार, जिस प्रकार बाण पहले वर्म फिर चर्म और अस्थि छेदन करता है उसी प्रकार पहले 'घूमो' और फिर 'मत घूमो' दोनों अर्थों का ज्ञान हो जायगा। क्योंकि 'घूमो' और 'मत घूमो' बिल्कुल विरुद्ध अर्थ

है, सम्बद्ध नहीं। यहां पर सभी अर्थ एक ही जाति के हों वहां तो यह व्याख्या मान भी ली जा सकती है, पर यहां उससे काम नहीं चलेगा। फिर यह तो स्पष्ट ही है कि यहां वाक्य के उच्चारण के साथ ही साथ समझदार आदमी के निकट 'मत घूमो' यह वाच्यार्थ से एकदम विपरीत अर्थ उत्पन्न होता है सारे श्लोक में कोई भी ऐसा शब्द नहीं है जिसके लिए किसी कोष या व्याकरण में ऐसा अर्थ लिखा हो। कुछ लोग कहते हैं कि निमित्त जो शब्द है उसी का संकेत अर्थात् कोष-व्याकरण परम्परा की प्रसिद्धि आवश्यक है। नैमित्तिक या कार्य रूप जो अर्थ है उसके लिये किसी संकेत की जरूरत नहीं। यह स्पष्ट ही गलत वात है। क्योंकि निमित्त के सिवा नैमित्तिक रह कहां सकता है ? यदि यह कहा जाय कि पहले प्रतीयमान अर्थ (मत घूमो) उपस्थित होता है फिर शब्द में इस अर्थ का संकेत आ जाता है तो यह और भी गलत वात है क्योंकि कारण पहले होना चाहिये, कार्य के वाद नहीं। इसी तरह अन्यान्य मतों के खण्डन के वाद ध्वनिकार इस नतीजे पर पहुँचते हैं कि शब्द की एक ध्वनि नामक विशेष शक्ति स्वीकार की जानी चाहिये।

अव काव्यत्व वहीं हो सकता है जहां व्यंग्यार्थ या ध्वनि—जो वस्तुतः काव्य का आत्मा है, हो। अगर यह व्यग्यार्थ, वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से अधिक स्पष्ट और उन्हें दवा देने लायक हो तो काव्य उत्तम है और उसे ध्वनिकाव्य कहा जायगा, यदि दोनों के वरावर ही या उनसे कम शक्तिशाली है तो मध्यम है

और यदि अत्यन्त कम है तो अवर या चित्र है। जिन दिनों ध्वनि का सिद्धान्त प्रतिष्ठा लाभ करने लगा था उसके पहले 'काव्य' नाम से कहे जानेवाले साहित्य में ऐसी बहुत सी बातें स्वीकृत हो चुकीं जिनको इस सिद्धान्त के मानने वालों को छोड़ देना पड़ता। ऊपर राजशेखर के काव्यांगों को भी यदि एक वार सरसरी निगाह से भी देखा जाय तो उसमें अलंकार की प्रधानता स्पष्ट हो जायगी। अट्ठारह काव्यांगों में से आधे तो विशुद्ध अलंकार ही हैं। फिर दण्डी और भामह आदि के ग्रंथों में अलंकारों की विशद व्याख्या है और शब्दालंकार के सम्बन्ध में तो महज शाब्दिक चमत्कार को बहुत अधिक तूल दिया गया है। मम्मट के लिये अलंकारों का काव्य में रहना कोई जरूरी बात नहीं थी। वे मानते थे कि रस-ध्वनि काव्य का आत्मा है, शब्द, अर्थ शरीर हैं, गुण शौर्य औदार्य आदि की भांति हैं, दोष काना-लंगड़ा-लूला होने के समान हैं और अलंकार गहने के समान बाहरी चीज हैं। अपने काव्य की परिभाषा में उन्होंने स्पष्ट ही कहा है कि शब्द और अर्थ गुण-युक्त होने पर काव्य हैं, कभी कभी उनमें अलंकार रह भी सकते हैं, नहीं भी रह सकते हैं। रस और अलंकारों के एक साथ रहने न रहने से काव्य के ६ भेद टीकाकारों ने गिनाये हैं—(१) सरस और स्पष्ट अलंकार सहित, (२) सरस और अस्पष्ट अलंकार सहित, (३) सरस और अलंकार शून्य (४) नीरस और स्पष्ट अलंकार सहित, (५) नीरस और अस्पष्ट अलंकार सहित, (६)

नीरस और अलंकार रहित। इनमें अन्तिम तीन ध्वनिवादियों के सम्मत नहीं हो सकते। परन्तु पूर्ववर्त्ती आलंकारिक ऐसे पद्यों को भी काव्य की मर्यादा दे सकते थे जो अन्तिम को छोड़ कर बाकी किसी भी श्रेणी में आ जायँ। इस प्रकार यद्यपि ध्वनिवादियों ने बहुत कुछ स्वीकृत काव्य में से अस्वीकार कर दिया तथापि बहुत कुछ उन्हें स्वीकार भी करना पड़ा। इसीलिए उन्होंने ध्वनि को तीन प्रकार का बताया। वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि और रस ध्वनि। जहां कोई वस्तु या अर्थ ध्वनित हो वहां वस्तु ध्वनि, जहां कोई अलंकार ध्वनित हो वहां अलङ्कार ध्वनि और जहां रस ध्वनित हो वहां रस ध्वनि होती है। इनके भेद उपभेदों का एक विशाल महल खड़ा किया गया है। यद्यपि सभी ध्वनि उत्तम काव्य है, पर रस सब से श्रेष्ठ है। मम्मट ने रस के सिलसिले में जिस एकमात्र आचार्य का नाम श्रद्धा के साथ लिया है, वे अभिनव गुप्तपाद स्पष्ट ही कहते हैं कि रस के विना काव्य हो ही नहीं सकता। नहि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्त्तते- यह वाक्य नाट्यशास्त्र से ही लिया गया है (देखिये चौदहवां नाट्यशास्त्र पृ० ७१) (लोचन पृ० ६२) विश्वनाथ तो रसात्मक वाक्य को ही काव्य मानते हैं। इस प्रकार इस जटिल ध्वनि-वाद के भीतर रस को गूंथा गया है। अब भी यह विचार करना बाकी है कि रस जो इतने प्राचीनकाल से नाट्यशास्त्र में प्रसिद्ध था, और उससे भी प्राचीन काल से 'आदि रस के रूप में परिचित होने का श्रेय पा सकता है, ध्वनि के रूप में कैसे आ

गया ? भरत ने कहा है कि विभाव, अनुभाव, संचारी के योग से रस की निष्पत्ति होती है। विभाव दो हैं आलंबन और उद्दीपन, आलंबन जैसे नायक और नायिका, उद्दीपन जैसे चाँदनी, उद्यान, मलयपवन इत्यादि। अनुभाव शरीर विकार को कहते हैं, जैसे कटाक्षपात, रोमांच इत्यादि। संचारी या व्यभिचारी भाव तैंतीस हैं। इनके अतिरिक्त आठ रसों के आठ स्थायी भाव हैं श्रृंगार का स्थायी भाव रति या लगन है, हास्य का हास, करुणा का शोक, रौद्र का क्रोध, वीर का उत्साह, भयानक का भय, वीभत्स का जुगुप्सा, अद्भुत का विस्मय। भरत मुनि का कथन है कि विभाव, अनुभाव और संचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है। इस 'निष्पत्ति' शब्द के अर्थ को लेकर आचार्यों में बहुत बहस हुई है। एक स्थायी भाव शुरू से आखिर तक काव्य या नाटक में रहता है। यह भाव आश्रय के चित्त में आलम्बन के सहारे प्रवृत्त होता है और उद्दीपन द्वारा उद्दीप्त किया जाता है, जिसके कारण आलंबन के अङ्ग में विकार होते हैं जो अनुभाव कहलाते हैं। स्थायीभाव यद्यपि आदि से अंत तक स्थिर रहता है तथापि बीच में शंका, असूया, भय आदि संचारी भाव आते और जाते रहते हैं। इनकी निष्पत्ति का क्या अर्थ हो सकता है ? नाट्यशास्त्र कहता है कि स्थायी भाव ही राजा है और अन्यभाव उसके सेवक। नाट्यशास्त्र में लिखा है कि जिस प्रकार नाना व्यञ्जन औषध द्रव्यादि के संयोग से 'रस' या स्वाद की निष्पत्ति होती है या जिस प्रकार गुड़ादि द्रव्य

'तीयमान होते हैं—जैसे रज्जु में भ्रमवश, या नकली खिलौने में नपुण्य वश साँप की प्रतीति होती है —तो इससे नाटक देखनेवाले का क्या? उसे क्यों आनन्द आये?, इस मत के विरुद्ध श्री शंकुक का मत था। वे रस का उत्पन्न होना नहीं स्वीकार करते थे। वे नैयायिकों के ढंग पर रस को अनुमान का विषय मानते थे। जिस प्रकार धुआं देख कर आग का अनुमान होता है वैसे ही विभावनुभावादि से रस का अनुमान होता है। निष्पत्ति शब्द का अर्थ अनुमान है। अब लोक प्रसिद्धि यह है कि 'प्रत्यक्ष मेव ज्ञानं चमत्कार जनकं नानुमित्यादिः'- अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान ही (अनुभूत) चमत्कारजनक होता, अनुमान द्वारा प्राप्त नहीं। इस लोक प्रसिद्धि के साथ इस मत का स्पष्ट ही विरोध है। काव्य रस का अनुमान करके आनन्द पाना कष्ट-कल्पना ही है। इसीलिए इस मत का भी विरोध किया गया है। इस तीसरे मत के प्रतिष्ठाता भट्टनायक हैं। ये निष्पत्ति शब्द का अर्थ 'भुक्ति' करते हैं। रस के साथ विभावादि का सम्बन्ध इनके मत से भोज्य-भोजक सम्बन्ध है। उनका मत है कि रस न तो उत्पन्न होता है, न प्रतीत होता है और न अभिव्यक्त होता है। काव्य और नाटक में अभिधा के अतिरिक्त दो और विलक्षण व्यापार होते हैं जिन्हें भावकत्व और भोजकत्व व्यापार कहते हैं। भावकत्व व्यापार राम में से रामत्व, सीता में से सीतात्व आदि को हटा कर साधारणीकरण के द्वारा साधारण स्त्री और पुरुष के रूप में उपस्थित करता है। और भोजकत्व व्यापार के द्वारा

कहा है, जब काव्यार्थ उपस्थित होता है तो उसके फलस्वरूप सत्त्वगुण का उद्रेक होता है और चित्त स्वप्रकाश और आनंदमय हो जाता है। क्योंकि प्रकाश और आनन्द दोनों ही सत्त्वगुण के धर्म हैं। इस प्रकार जो रस अभिव्यक्त होता है वह विश्व-जनीन होता है। उसमें कोई वैयक्तिक रागद्वेष नहीं होता। लौकिक भय-प्रीतिजनक व्यापारों से यह भिन्न होता है क्योंकि इसमें व्यक्तिगत सुख-दुःख का स्पर्श नहीं होता। लोक में एक स्त्री एक पुरुष के प्रति जब अभिलाषा प्रकट करती है तो उसमें व्यक्तिगत सुख-दुःख का भाव रहता है, पर काव्य और नाटक में जब यही बात होती है तो उसमें वह व्यक्तिगत रागद्वेष नहीं होता। इसमें सहृदय एक निर्वैयक्तिक अलौकिक आनन्द का उपभोग करता रहता है। यह आनन्द उस आनन्द के समान है जो योगियों को प्राप्त होता है, यद्यपि यह अपने ही चित्त का पुनः पुनः अनुभूत स्थायी भाव अपने आकार के समान ही अभिन्न है तथापि काव्यनैपुण्य से गोचर किया जाता है, आस्वादन ही इसका प्राण है, विभावादिक के रहने पर ही यह रहता है, नाना प्रकार के मीठे खट्टे पदार्थों के संयोग से बने हुए शरबत की भाँति यह आस्वादित होता है, मानों सामने परिस्फुरित होता हुआ हृदय में प्रवेश करता हुआ, सर्वांग को आलिंगन करता है, अन्य सब कुछ को तिरोहित करता हुआ ब्रह्मानन्द को अनुभव करनेवाला यह रस अलौकिक चमत्कार का कारण है। यह कार्य नहीं है, क्योंकि कारण के नाश होने पर कार्य नष्ट नहीं

होता और यह विभावादि के अभाव में नहीं रह सकता। वह ज्ञाप्य भी नहीं है, अर्थात् जिस प्रकार अन्धकार में रखी हुई वस्तु दीपक आदि से प्रकाशित होकर ज्ञाप्य बनती है, उस प्रकार यह नहीं होता, क्योंकि वह स्वयं सिद्ध है। बल्कि वह विभावादि से व्यंजित होकर आस्वादित होता है। जो कारक द्वारा कार्य नहीं, ज्ञापक द्वारा ज्ञाप्य भी नहीं ऐसी कोई वस्तु दुनिया में नहीं हो सकती, इसीलिए रस अलौकिक है। अभिनव गुप्त के इस मत में जो सबसे बड़ी विशेषता है वह यह है कि वे स्थायी भाव को पहले से ही सहृदय के चित्त में स्थित मानते हैं, जब कि अन्यान्य व्याख्याकार उसे सहृदय से बाहर मानते हैं। निस्सन्देह अभिनव का सिद्धान्त मनोविज्ञान-सम्मत है और रसानुभूति का सर्वोत्तम मार्ग बताता है।

नाट्य शास्त्र में रस के विषय में जो कुछ कहा गया है उससे अनुमान होता है कि भरतमुनि भी निष्पत्ति का अर्थ आस्वाद ही समझते थे। उन्होंने अनेक बार भोज्य वस्तु के रस के साथ इसकी तुलना की है। नीबू और चीनी आदि के संयोग से जो एक विशेष प्रकार का रस बनता है वह न तो नीबू है, न चीनी है, न जल है, न इन सब का मिश्रित रूप है और न इन के बिना ही रह सकता है। ठीक इसी प्रकार विभावादि से जो रस निष्पन्न होता है वह न तो नायक है, न नायिका है, न पुष्पोद्यान-विहार है, न स्थायी भाव है, न अनुभाव है, न व्यभिचारी भाव है और न इन सब का मिश्रण है, न इन के सिवा रह सकता है। वह इन

सब से भिन्न है, और फिर भी इन्हीं चीजों से निष्पन्न या अभिव्यक्त हुआ है। इसीलिए कवि का उद्देश्य इन वस्तुओं को सूक्ष्म भाव से प्रकट करना नहीं है बल्कि इनको साधन बना कर उस अलौकिक चमत्कार स्वरूप रस को व्यंग्य करना है। यह भारतीय कवि का विशेष दृष्टिकोण है। उसका प्रयत्न भावनाओं का चित्रण नहीं है; उनके द्वारा–उनके उचित संयोग से अलौकिक ब्रह्मानंद-तुल्य रस को अभिव्यक्त करने का है। ठीक संसार जिस प्रकार आपाततः असत् हो कर भी उसके निकट किसी अन्य व्यापक सत्ता की ओर इशारा करता रहता है, उसी प्रकार प्रकृति और मानव मनोभाव किसी अलौकिक रस की ओर इशारा करते हैं। यदि कवि के वर्णन से या नाटक के अभिनव से हम रस तक नहीं पहुँच सके तो वह काव्य और वह नाटक व्यर्थ हैं। नायक (ले जानेवाला) नायक है क्योंकि वह सहृदय को रस तक ले जाता है; नायिका (ले जानेवाली) नायिका है क्योंकि वह सहृदय को रस तक ले जाती है; अभिनय, (भीतर तक ले जाने वाला) अभिनय है क्योंकि वह रस को भीतर ले जाता है; पात्र, (वर्तन) पात्र हैं क्योंकि वे रस के आधार हैं, और रूपक (रूप देने वाला) रूपक है क्योंकि वह इस अरूप रस को रूप देकर प्रत्यक्ष कराता है। समूचा भारतीय काव्य साहित्य रस को प्रत्यक्ष करने का प्रयत्न है। तथा कथित 'Deeper question of human life' या 'मानव जीवन के गंभीरतर प्रश्न' के उत्तर देने के लिए यह साहित्य नही रचा गया। इसका उद्देश्य मानव

जीवन के गंभीरतम उद्देश्य—ब्रह्मास्वाद—को सुलभ करना है। इस रस का जो स्वरूप ऊपर बताया गया है वह ध्वनित ही हो सकता है। इसलिए यद्यपि ध्वनि सम्प्रदाय अन्यान्य अलंकार सम्प्रदायों की अपेक्षा नवीन था तथापि 'रस' के प्राचीन सिद्धान्त को आत्मसात् करने की शक्ति उसी में थी। रस प्रकृत्या ही व्यंजनीय है। उसे ध्वनि के अन्तर्गत ही आना चाहिये था। यह तो हमें नहीं मालूम कि ध्वनिकार का यह दावा कि काव्य का आत्मा ध्वनि है, 'यह सिद्धान्त पूर्वाचार्यो का है', कहां तक ठीक है, परन्तु इस में कोई सन्देह नहीं कि भरतमुनि के ग्रंथ में रस-ध्वनि का बीज हमें मिल सकता है।

रस की नीरस चर्चा यहीं समाप्त कर रहा हूँ। थोड़ा और बढ़ाया जा सकता तो यह प्रकरण इतना अधूरा नहीं दिखाई देता। परन्तु हमारे काम की बातें सभी आ चुकी हैं और जिस बात पर विचार करना आवश्यक है उस पर यहीं से विचार शुरू किया जा सकता है। हम ने 'रस' के मूल अर्थ और उसके विकास की कहानी सुन ली है। यह 'रस' ही भारतीय शिल्प और कला का प्राण है। इस लक्ष्य पर ही इस देश के सहृदय की आँख लगी हुई थी। दीर्घ काल की साधना के बाद यह दृष्टि समाज में सुप्रतिष्ठित हुई थी। हमने शुरू में ही लक्ष्य किया है कि कलात्मक सुकुमार विनोदों के लिए इस प्रकार की एक गंभीर सुप्रतिष्ठ दृष्टि नितान्त आवश्यक है। यह दृष्टि भारतीयों में सुप्रतिष्ठित हो चुकी थी। गलत कहिये या सही, उनका विश्वास

एक अलौकिक ब्रह्मानंद में था और जिस किसी चीज को वे श्रेष्ठ और ग्राह्य मान लेते थे उसे इस आनन्द की कोटि में रख देते थे। रस भी ऐसा ही आनन्द है। वह भी ब्रह्मानन्द सहोदर है। इसीलिए उसकी अनुभूति के प्रकार को लेकर बहुत बहस हुई है पर उसकी अनुभूति की सचाई पर कभी सन्देह नहीं किया गया है। पर भारतीय जीवन को और उसकी सर्वोत्तम अभिव्यक्ति को समझने के लिए एक और बात की जानकारी भी निहायत जरूरी है। उसने समस्त भारतीय मनीषा को अपने ढंग का अद्वितीय बना दिया है।

साहित्य का नया रास्ता

साहित्य में बड़ी तेजी से परिवर्तन हो रहा है। हमारा तरुण साहित्यकार यह विश्वास करने लगा है कि अब तक के साहित्यकार जिस मार्ग पर चलते रहे वह मार्ग अपने चरम गन्तव्य तक पहुँच चुका है, अब अगर उसी पर बना रहना है तो या तो धीरे-धीरे पीछे लौटना होगा या फिर दौड़कर एक बार आगे से पीछे और एक बार पीछे से आगे की ओर आने की कसरत करनी होगी। इस क्रिया से दौड़नेवाले की फुर्ती, ताकत और हिम्मत की तारीफ कर ली जा सकती है पर इतना निश्चित है कि उससे आगे बढ़ने की आशा नहीं की जा सकती। आगे बढ़ना हो तो इस सड़क के अन्तिम किनारे से मुड़ जाना होगा। सबलोग उस रास्ते को नहीं देख पाते क्योंकि वह अब भी अच्छी तरह से बना नहीं है, काँटे और कंकड़ की ढेर में से एक अस्पष्ट पगडंडी उस रास्ते की ओर इशारा कर रही है, लहूलुहान हो जाने का खतरा भी बहुत है पर अगर मनुष्य जाति को वर्तमान दुर्गति से बचना है तो इस मार्ग पर चलने के सिवा और कोई उपाय नहीं है।

यह जो मनुष्य जाति को दुर्गति के पंक से बचाने का संकल्प है यह एक बहुत बड़ा उपादान है जो आज के साहित्य को नए रास्ते की ओर ठेल रहा है। मैंने मार्क्स-लिखित एक वाक्य

किसी पुस्तक में उद्धृत देखा था। पुस्तक चूंकि मार्क्स के बहुत बड़े प्रशंसक की लिखी हुई है इसलिए उसके उद्धरण को प्रामाणिक मान लेने में कोई आपत्ति नहीं है। उस छोटे-से किन्तु सारगर्भित वाक्य का भावार्थ हिंदी में इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है "अब तक तत्वज्ञानियों ने विश्व की नानाभाव से व्याख्या-मात्र की है, लेकिन असली प्रश्न व्याख्या करने का नहीं है, बल्कि परिवर्तन करने का है।" इसका मतलब यह हुआ कि मार्क्स का प्रचारित तत्वज्ञान कोई शास्त्रीय मतवाद नहीं है बल्कि दुनियाँ को बदल कर मनुष्य के सुख-सौविध्य के अनुकूल निर्माण करने का विज्ञान है। वह केवल बहस की चीज नहीं है। उसने दुनिया को ही नहीं, दुनिया के इतिहास को भी एक खास दृष्टि से देखा है और सब देख-सुन लेने के बाद वह जिस नतीजे पर पहुँचा है उस तक मनुष्य को पहुँचा देने को वह एक कर्तव्य मानता है। इस मत को माननेवाला उसी लक्ष्य तक मानवजाति को पहुँचा देने के उद्देश्य से ही काव्य लिखता है, नाटक खेलता है, पार्लियामेंट की सीटें दखल करता है और सेना के संचालन में अपना हक खोजता है। यह नहीं है कि साहित्य के मैदान में वह सौंदर्य के निरीह मृग का शिकार करता हो, राजनीति में झूठ सच की आँखमिचौनी खेलता हो, और धर्म के क्षेत्र में आत्मोद्धार के लिए सपाद लक्ष मंत्र का जप करता हो। वह सब क्षेत्रों में केवल एक ही लक्ष्य को सामने रखकर काम करता है—मनुष्य जाति को उस लक्ष्य तक पहुँचा देना जो

उसके अभीष्ट मतवाद के आचार्यों द्वारा अनुध्यात है और जिस लक्ष्य तक पहुँचकर उसके विश्वास के अनुसार मनुष्य-जाति का अभ्युदय निश्चित है।

दो बातें इस प्रसंग में स्मरण कर ली जानी चाहिये। भारतवर्ष में तटस्थ पर्यालोचक द्वारा की गई दुनिया की व्याख्या को दर्शन नहीं कहा गया। इस देश में प्रत्येक दार्शनिक विचार का विकास किसी धार्मिक साधना के कारण हुआ है। इसलिए धार्मिक साधना का जो उद्देश्य हुआ करता है वह उद्देश्य दार्शनिक विचारधारा के साथ बराबर अनुस्यूत रहा है। धार्मिक-साधना का एक उद्देश्य यह अवश्य होता है कि वह साधक को बदल कर एक विशेष कोटि का बना दे। अर्थात् धार्मिक साधना भी विश्व की व्याख्या मात्र नहीं है बल्कि साधक को परिवर्तित कर देने की चेष्टा है। इसलिए अन्यान्य देशों के तत्त्वज्ञानियों की भाँति इस देश के दार्शनिक केवल तटस्थ व्याख्याता नहीं कहे जा सकते। यह अवश्य है कि वे साधना से और दर्शन से व्यक्ति को बदलने का प्रयास करते थे, सारी दुनिया को नहीं। दूसरी बात यह कि यद्यपि प्राचीनतर तत्त्ववाद जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में व्यावहारिक को भिन्न-भिन्न रूप में मानते थे तथापि सर्वत्र एकरस सत्य को खोजने और आचरण करने का प्रयास बहुत नई बात नहीं है। व्यावसायिक क्रान्ति के बाद से नाना मनीषियों ने नाना भाव से इस बात को प्रमाणित किया है। इन दो बातों के होते हुए भी यह सत्य मालूम होता है कि जितने

व्यापक और वैज्ञानिक रूप में मार्क्स के अनुयायियों ने ऊपर बताई हुई विशेषता को अपनाया है उतना अब तक कभी नहीं हुआ था।

अपने को प्रगतिशील घोषित करनेवाली रचनाओं ने ऐसे लोगों को एक अजीब भ्रम में डाल रखा है जो मेरे समान जिज्ञासु तो हैं पर अर्थशास्त्र की पुरानी, आधुनिक (पूंजीवादी) और मार्क्सवादी व्याख्याओं को समझने का सुयोग नहीं पा सके हैं और इसीलिए जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में उसके 'व्यापक प्रयोग को ठीक-ठीक समझ नहीं पाते। पर इधर हाल ही में प्रगतिशीलता-आन्दोलन के नेताओं ने उत्तम कोटि की प्रगतिशील कविताओं का संग्रह करना शुरू किया है। इन रचनाओं के पढ़ने से मेरे मन में जो बात लगी है वह यह कि जिन रचनाओं को प्रगतिशील कहा गया है उनकी आधारभूत तत्त्व-चिंता कोई आर्थिक या राजनीति वाद नहीं है। सम्पूर्ण मानवजाति ने अनादिकाल से जो ज्ञानराशि संचय की है उस संपूर्ण का रस निचोड़ कर ही वह तत्त्वज्ञान अपनी सत्ता बताता है। कम-से-कम उसकी इच्छा ऐसी ही है। इस तत्त्ववाद को चार सूत्रों में जो बाँट लिया जा सका है सो केवल सुविधा के लिए; (१) दुनिया या प्रकृति (जिसमें मानव-समाज भी शामिल है) परम्परा सापेक्ष वस्तुओं से बनी है, कोई भी वस्तु अपने आपमें निरपेक्ष नहीं; (२) कुछ भी स्थिर नहीं है, प्रत्येक वस्तु गतिशील है और परिवर्तनशील है, या तो वह विकासोन्मुख है या

पतनोन्मुख, पर है गतिशील; (३) वस्तुओं का विकास आसानी से नहीं हो जाता—थोड़ी देर तक वह जरूर आसानी से ही चलता रहता है पर एक ऐसे स्थल पर पहुँचता है जब वह एकाएक तेजी से विलट जाता है। पानी में गर्मी का संचार करते रहिए। निश्चित है कि थोड़ी देर तक कुछ परिवर्तन नहीं दिखेगा। एकाएक एक खास सीमा तक आने पर पानी खौलने लगेगा, उसमें उथल-पुथल मच जायगा और वह वाष्प बनकर उड़ने लगेगा। पतनोन्मुख पानी और विकासोन्मुख वाष्प की यह सादी कहानी अत्यन्त जटिल मानव-समाज में भी इसी प्रकार दिखाई देती है; (४) प्रत्येक वस्तु में दो तत्त्व होते हैं; विकासोन्मुख और ह्रासोन्मुख। जो विकसित हो रहा है उसे दूसरा तत्त्व बाधा देता है, अभिभूत करने की चेष्टा करता है; जब विकसनशील तत्त्व काफी प्रबल हो जाता है तो द्वन्द्व तीव्रतम हो उठता है और फिर धीरे-धीरे बाधा देनेवाला या प्रतिकर्ता तत्त्व ठप्प हो जाता है। ये चार सूत्र प्रकृति के कण कण में लागू हैं। इनको आवश्यकतानुसार अपने उद्देश्य-साधन में लगाया जा सकता है। ज्ञान-विज्ञान की चर्चा का फल वही उद्देश्य-साधन है, राजनीति और अर्थनीति का लक्ष्य इन्हीं नियमों को अनुकूल विश्व-निर्माण में लगाना है और साहित्य और कला का उद्देश्य भी ऐसा ही है। अप्रासंगिक आनन्द का अनुभव हो जाय तो उसे आनुषंगिक फल मान लेना चाहिए। वही साहित्य का वास्तव फल नहीं है।

ऊपर जो कुछ लिखा जा चुका है वह आधुनिक प्रगतिशीलता का ठीक-ठीक विश्लेषण है या नहीं, यह मैं नहीं कह सकता। इसमें ईमानदारी के साथ समझने की चेष्टा के सिवा और किसी सद्गुण की बात का दावा मैं नहीं पेश कर सकता। पर यह अगर सत्य के नजदीक है तो मुझे ऐसी कोई बात नहीं दिखती जिससे वे लोग चिढ़ें या घबराएँ जो अपने को प्राचीन-पंथी कहते हैं। ऊपर मैंने जो कुछ लिखा है वह न तो हमारी प्राचीन काव्य-परंपरा के स्वाभाविक विकास का परिपंथी है न आधुनिक सहृदय के मानस-संस्कारों का प्रतिगामी। प्राचीन कवि अपने काव्य का उद्देश्य "रामादिवद्वर्तितव्यम् न तु रावणादिवत्" समझता था। इसका अन्तर्निहित अर्थ यह था कि काव्य दुनिया के आचरण को अच्छे मार्ग की ओर मोड़ देने के संकल्प से लिखा जाता था। उस समय सत् और असत् की सीमाएँ निर्धारित थीं, धर्म और अधर्म की मर्यादा स्थिर मान ली गई थीं, ऐसा विचार केवल बाह्य सतह पर चक्कर काटनेवालों के लिए ही ठीक है। कभी भी प्राचीन विचारकों ने कर्मविशेष का सदा के लिए सत् या असत् नहीं बताया। कर्म की गति सदा गहन समझी जाती रही है, इसीलिए गीता में कर्म, अकर्म और विकर्म तीनों को ठीक-ठाक समझने पर जोर दिया गया है—

कर्मणोऽह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः

अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।

सत्य बोलना धर्म है, यह मोटी-सी बात है। पर सत्य बोलना

क्या चीज है यह अवस्था के विचार के बिना नहीं समझा जा सकता। शुकदेव से नारद ने कहा था कि 'सच बोलना ठीक है, पर हित की बात बोलना और भी ठीक है—सत्य की अपेक्षा हित श्रेष्ठ है !—क्योंकि मेरा विचार यह है कि सत्य वह नहीं है जो मुंह से बोला जाता है, सत्य वह है जो समस्त जगत् का ज्यादा से ज्यादा उपकार करता है, आपाततः वह चाहे झूठ जैसा ही क्यों न सुनाई देता हो—

सत्यस्य वचनं श्रेयः सत्यादपि हितं वदेत्

यद्भूतहितमत्यन्तमेतत् सत्यं मतं मम ॥

—म० भा० शान्तिपर्व ३२६.१३

महाभारत में अन्यत्र बताया गया है कि अवस्था विशेष में सत्य के बदले असत्य बोलना ही विहित है (शां० १०६.१६) सो यह समझना कि कर्म की सत् और असत् की मर्यादा प्राचीन विचारकों ने लोहे की मोटी दीवार से बांध दी थी सत्य का अपलाप-मात्र है। यह अवश्य है कि साधारण जनता को उन्होंने इतनी गहराई में उतरने की शिक्षा नहीं दी और उनके लिए पाप-पुण्य की मर्यादा बांध दी। यहाँ वे गलती कर सकते हैं पर प्राचीन तत्त्ववादियों की गलतियों को अपना खुराक बनाकर प्रगतिशीलता का आन्दोलन अपनी गति को कुण्ठित भर कर सकता है, किसी का कोई उपकार नहीं कर सकता।

प्रगति-आंदोलन के नेताओं ने हरदम क्लास, वर्ग और श्रेणी का नाम लेकर भी अपना वक्तव्य धूमिल बना दिया है। वे ऐसी

बहुत-सी बातें कहते हैं जो वर्ग-भावना के बिना भी समझाई जा सकती थीं परन्तु उनका उद्देश्य उस बात को समझाना शायद कम होता है और वर्ग-संघर्ष की भावना को परिचित बनाना अधिक। 'संस्कृति' शब्द बड़ा अस्पष्ट है इसलिए उसे छोड़कर 'ज्ञान' शब्द को लेकर विचार किया जाय। मानव-समाज ने प्रत्येक काल किसी-न-किसी रूप में ज्ञानधारा को आगेबढ़ाया है। प्रत्येल काल में ज्ञान की साधना एक खास वर्ग या श्रेणी ने की है। समय ने उस वर्ग को दुनिया की सतह से पोंछ दिया है पर उनका आविष्कृत ज्ञान मानवमात्र की सम्पत्ति होकर उपकार कर रहा है। शुल्व-सूत्रों के जिन ब्राह्मण पुरोहितों ने प्रथम-प्रथम रेखागणित के विश्वव्यापक नियमों का आविष्कार किया था वे मिट गए पर जो ज्ञान वे दे गए वह सारे जगत् की अपनी चीज है। इसलिए यद्यपि प्रत्येक ज्ञान का एक ऐसा व्यावहारिक रूप रहा है जो वर्ग-विशेष के अर्थार्जन का मूल रहा है पर यह वह उसका शाश्वत रूप नहीं है। उसका एक स्थिर रूप भी है जो अपने उद्भावक वर्ग के नष्ट हो जाने पर भी बना रहता है। मैं ठीक नहीं कह सकता कि ज्ञान के उस रूप को प्रगतिवादी नेता क्या कहेंगे पर जो कुछ भी कहें उस शब्द का अर्थ शाश्वत या स्थिर जैसा ही कुछ होगा। ज्ञान का जिस प्रकार एक स्थिर या शाश्वत रूप है जो वर्ग-स्वार्थ के परे है उसी प्रकार काव्य-सौन्दर्य का भी है। उसका 'ब्रह्मानंद-सहोदर' कहकर समझने की चेष्टा किए बिना ही मजाक उड़ा देना आसान है पर उससे

स्वीकार नहीं कर सकता। परन्तु इन भौतिकवादियों की भी कई श्रेणियाँ हैं यदि वह साधारण राजनीतिक प्रचारक होगा तो अभिनवगुप्त या आनंदवर्धन को किसी वर्गविशेष का प्रतिनिधि मानकर उनकी नीयत पर ही आलोचना की कैंची चला देगा। परन्तु यदि वह गंभीर तत्त्वचिंतक होगा तो मानेगा कि ये विचार चाहे जिस क्लास की उपज हों ज्ञानधारा को आगे बढ़ाने में सहायक हैं, वह इन विचारों को तटस्थ तत्ववादी की भांति विश्लेषण करके और विचार करके दूर नहीं फेंक देगा बल्कि अपने अनुध्यात भविष्य के निर्माण में इनसे किस प्रकार सहायता ली जा सकती है यही सोचेगा। मार्क्सवादी के लिए कोई सत्य लोहे की मोटी दीवारों से घिरा नहीं है और इसीलिए वह संसार के प्रत्येक स्टेज में अर्जित ज्ञान को अपने काम में लाने से नहीं हिचकता। नीति को अवस्थाएं रूप देती हैं। जो लोग इस देश में प्रगतिशील साहित्य के आन्दोलन का नेतृत्व कर रहे हैं उन्हें अपने देश के संचित ज्ञान की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए। आज नहीं तो कल उन्हें उस विशाल ज्ञान-राशि के संरक्षण और आलोचन का भार अपने कंधे पर लेना होगा। हजारों वर्ष की समृद्ध ज्ञानराशि को फेंक देना बुद्धिमानी नहीं है। दुनिया की अन्य सभी वस्तुओं को फेंक देने से भार हल्का हो सकता है पर ज्ञान के फेंकने से भार बढ़ जाता है।

प्रगतिशील कही जानेवाली सब रचनाओं की तो मैं नहीं कहता—उनमें बहुतेरी ग्राम्य, अश्लील, जुगुप्सित और रसाभास-

मूलक हैं—पर चुने नमूने के तौर पर संगृहीत कविताओं और कहानियों तथा नाटकों को देखकर मैं कह सकता हूँ कि वे अपनी प्राचीन परंपरा के स्वाभाविक विकास के रूप में समझाई जा सकती हैं। दो बातें मान लेने से वे इस देश के लिए भी ग्राह्य बनाई जा सकती हैं—ज्ञान और सौंदर्य का चिरंतन रूप और सहृदय के वासनारूप में स्थित रस का उद्बोध। मैं ठीक नहीं जानता कि आधुनिक साहित्य-मीमांसक इन बातों को स्वीकार करेंगे या नहीं पर मेरा अपना विश्वास है कि एक समय आएगा जब भारतवर्ष के सभी क्षेत्रों पर समाजवाद के किसी न किसी रूप का आधिपत्य होगा। उस दिन के लिए हमें अभी से तैयारी करनी होगी। आज से ही हमारे प्रगतिशील तरुण साहित्यकारों को यह याद रखना होगा कि किसी दिन ऐसे सैकड़ों मतवादों और तत्त्वचिन्ताओं को उन्हें आत्म-निरपेक्ष भाव से अध्ययन, मनन, संपादन और विवेचन करना होगा जो उनके आज के प्रचारित मत के विरुद्ध पड़ेगी। आज का तरुण आलोचक जिस मत को बिना समझे ही मजाक का विषय बना रहा है, कल उसी मत की संरक्षा का भार उसीपर आनेवाला है। दुनिया जैसी आज है वैसी ही नहीं बनी रहेगी, शास्त्रों की जो ढीलम-ढाल संरक्षण-व्यवस्था आज जारी है वह शीघ्र ही खत्म हो जायगी और तरुण साहित्यकार की गैर-जवाबदेह मस्ती भी कपूर की भांति उड़ जायगी। उस दिन जो प्राचीन संचित ज्ञाननिधि प्रकट होगी वह थोड़े से बुद्धि-विलासियों के मनो-

विनोद का साधन नहीं होगी, वह वृहत्तर मानव-जीवन की कर्म विधि को रूप देगी। उस दिन निश्चित है कि नया तत्त्वज्ञान उससे समृद्ध होगा और कुछ आश्चर्य नहीं यदि वह थोड़ा परिवर्तित भी हो जाय। यदि संसार की कोई वस्तु स्थितिशील नहीं है, सभी परिवर्तन-शील हैं, तो ऊपर लिखे हुए प्रगतिसूत्र ही क्यों स्थिर होंगे। मार्क्स का तत्त्वज्ञान भी तो कोई स्थिर और शाश्वत चीज नहीं है। यदि इतनी-सी बात हमारे तरुण साहित्यकार याद रखें तो उनकी रचनाएं अधिक गंभीर, अधिक उत्तरदायित्वपूर्ण और अधिक प्रभावोत्पादक होंगी। नवीन रचनाओं में जो प्राण है सो कोई अस्वीकार नहीं कर सकता परन्तु मेरा अनुमान है कि यदि किसी दिन इस देश में इन कविताओं ने गहरे तक जड़ जमाया तो दो शर्तें वे किसी न-किसी रूप में अवश्य मान लेंगी। वे ज्ञान, सौन्दर्य और कल्याण के अस्थायी परिवर्तनशील रूप के साथ स्थायी शाश्वत रूप को अस्वीकार नहीं कर सकेंगी और न यही अस्वीकार कर सकेंगी कि उनका काम सहृदय के हृदय में स्थायी रूप से विद्यमान भावों का उद्बोध है। इन दो बातों को मान कर ही वे इस देश में अपना प्रभाव विस्तार कर सकेंगी। मेरा दृढ़ विश्वास है कि वे शीघ्र ही ऐसा प्रभाव प्रसार कर सकेंगी इसलिए मेरा यह भी विश्वास है कि एक-न-एक रूप में वे इन दोनों बातों को भी मान लेंगी। अपने देश की चिन्ता-परंपरा न तो उथली है न संकीर्ण इसलिए इस नये तत्त्ववाद को उसमें आसानी से खपाया जा सकता है, समृद्ध बनाया जा सकता है और अपने ढंग पर अपनाया जा सकता है।

रीतिकाव्य

[एक कल्पनिक वार्त्तालाप]

स्थान—पुस्तकालयाध्यक्ष का कमरा

उपस्थित सज्जन

पुस्तकालय के अध्यक्ष (पण्डित जी)

रत्नकरदास
शर्माजी
मिश्रजी
शुक्लजी } वृद्ध पण्डित

श्रीमती तिवारी
भगवती प्रसाद
बलराज } नवीन साहित्यिक

[बलराज का एक पुस्तक लेकर प्रवेश। पण्डितजी के पास एक कुर्सी खींचकर बैठना। अन्यान्य सज्जन पण्डितजी के सामने की टेबिल को घेरकर बैठे हैं।

श्री भगवतीप्रसाद पण्डितजी के बिलकुल पास हैं।]

पण्डितजी—क्या लाए बलराजजी, मतिरामग्रंथावली? पढ़ने लायक चीज है। मैं कहता हूँ, ऐसी पेसी मधुर ब्रजभाषा किसी ने लिखी ही नहीं।

बलराज—मगर पण्डितजी, मैं इन पुस्तकों को दो पेज से आगे एकदम नहीं पढ़ पाता। पन्ना खोलते ही इसमें एरिस्टोक्रेसी

(रईसी) की बू आती है। नायिकाएँ हैं कि सिंगार-पटार में उलझी ही रहती हैं, वियोगिनियाँ हैं कि उसाँसें लेती ही रहती हैं, नायक हैं कि प्रियाओं की मिजाजपुर्सी के मारे दम ही नहीं ले पाते। इसे आप कविता कहते हैं? जीवन से विच्छिन्न वास्तविकता से दूर, पैरासाइट (परोपजीवी) लोगों की खुशामद से भरपूर। एरिस्टोक्रेसी का इतना भद्दा रूप शायद ही कहीं देखने को मिले।

भगवतीप्रसाद –(धीरे) एरिस्टोक्रेसी की मुहर लगा देने से ही कोई चीज खराब क्यों हो जायगी?

रत्नाकर—हो सकती है, अगर शब्द का प्रयोग बे-समझे बूझे किया जाय। एरिस्टोक्रेसी का अर्थ क्या है—पैसा? बिल्कुल नहीं। गंगा पंसारी इस कस्बे में सबसे अधिक पैसोंवाला आदमी है, पर वह क्या रईस है? नहीं। क्योंकि रईसी उसके रक्त में नहीं है। एरिस्टोक्रेसी का सम्बन्ध रक्त से है। भद्दा नाम क्यों देते हो? अपना देर म देकर देखो तो इस चीज की महिमा साफ समझ में आ जायगी। यह शब्द है कौलीन्य। शरीर, मन और आत्मा, तीनों की कुलीनता से रईसी आती है। यह एक दिन में पैदा नहीं होती। इसे भी कल्चर करना पड़ता है। कई पुश्तों की साधना से यह चीज बनती है तुम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र जैसे सहृदय की कल्पना भी एक दरिद्र किसान के घर में कर सकते हो? हरिश्चन्द्र कुलीनता की देन थे, रईसी से उपजे थे। रवींद्रनाथ क्या एरिस्टोक्रेट नहीं

हैं ? इतिहास देखो। बड़े-बड़े सभी आंदोलन रईसों ने शुरू किए हैं। चाहे वे जनक हों, बुद्ध हों या गांधी हों।

बलराज—आप बुजुर्ग हैं। बुरा न मानें तो आपकी पीढ़ी के सभी लोगों में यह एक बड़ा भारी दोष था कि वे समाज के कुछ गिने-चुने व्यक्तियों का नाम लेकर उस पर से सामान्य नियम निकाला करते थे। यह एकदम अवैज्ञानिक बात है। जो आर्थिक व्यवस्था आज तक चली आ रही है, उसमें यही संभव था। आप जिस चीज को प्रतिभा या कला या सहृदयता नाम दे रहे हैं, वह सब आपकी रईसी-प्रधान-समाज-व्यवस्था की कल्पना है। आपने पहले तो एक ऐसी परिभाषा बनाई, जो आपके संस्कारों के अनुकूल है ; फिर, बाद में ऐसे व्यक्ति ढूँढ़े, जो उस परिभाषा के उदाहरण के लिए पूरे उतरते हैं। असल में व्यक्ति को आपलोगों ने जो प्राधान्य किया है, वह आवश्यकता से बहुत अधिक है। आखिर, व्यक्ति परिस्थितियों से ही तो बनते हैं। सत्रहवीं शताब्दी में कोई गाँधी क्यों नहीं हो गया ? और, बीसवीं शताब्दी का बंदा बैरागी के दिन अपनी शूरता दिखा सकता है ?

शर्माजी—कुछ फिक्र मत करो, बेटा ! तुम्हारे लड़के भी तुम्हें ललकार कर कहेंगे कि आपलोगों की पीढ़ी में यह एक बड़ा भारी दोष था कि सभी बहकी-बहकी बातें किया करते थे। कोई ऐसी चीज, जिसे छुआ जा सके, देखा जा सके, समझ सके, उनके दिमाग से निकली ही नहीं।

भगवती प्रसाद—तब की बात तब देखी जायगी। अभी तो आप बलराजजी की बातों का कोई ठोस जवाब नहीं दे रहे हैं।

शर्माजी—देता हूँ, घबराओ मत; हमारी पीढ़ी व्यक्ति पर विश्वास करती थी। व्यक्ति के बिना तुम किसी जाति के इतिहास की कल्पना कर सकते हो? तुम क्या हिंदुओं के एक ऐसे इतिहास की बात सोच सकते हो, जिसमें कालिदास और भवभूति न हों, तुलसीदास और बिहारी न हों, हर्ष और राणा प्रताप न हों? तुम परिस्थितियों की बात कर रहे थे। शिवाजी के अनुकूल कौन-सी ऐसी परिस्थितियाँ थीं, जो शिवाजी को पैदा कर सकीं? इतिहास साक्षी है कि दरिद्रता, हीनता और बंधनों में ऐसे महापुरुष पैदा होते हैं, जो जबर्दस्त से जबर्दस्त सत्ताधारियों की कान्ति छीन लेते हैं। जो काम बड़े-बड़े सम्राट् अक्षर-बहुल कवित्त-जैसी वाहिनियों से नहीं कर पाते, वह वे दोहे की दुनाली से कर डालते हैं। व्यक्तियों ने इतिहास बनाए हैं, व्यक्तियों के कारण मरी हुई जातियों में जान आई है, व्यक्तियों के कारण ही जीती हुई जातियाँ नष्ट हो गई हैं। सही बात तो यह है कि व्यक्तियों के बिना जाति का कोई अर्थ ही नहीं होता। आज जो बड़े बड़े आविष्कार हुए हैं, वे किनके करते? निश्चय ही कुछ थोड़े से लोकोत्तर प्रतिभाशाली व्यक्तियों के कारण। तुम नहीं मानते?

भगवतीप्रसाद:—आप, शायद आविष्कारों के द्वारा जो प्रगति हुई है, उसकी ओर इशारा करना चाहते हैं।

शर्माजी—हाँ, और प्रत्येक आविष्कार के पीछे एक व्यक्ति है, जिसको परिस्थितियों ने कभी-कभी एकदम सहायता नहीं पहुँचाई है, उल्टे बाधा पहुंचाई है।

बलराज—व्यक्ति की बात आप व्यर्थ ही जोड़ रहे हैं। आविष्कारों की बात ठीक है। प्रत्येक आविष्कार के पीछे कोई-न-कोई आर्थिक कारण रहा है। मनुष्य को जीवन की लड़ाई में जब बाधा प्राप्त हुई है तो उसने उसका प्रतिकार किया है। चूहे भी लोकोत्तर चमत्कारकारी आविष्कार किया करते हैं। मनोविज्ञान की प्रयोगशाला में ऐसे आविष्कारों के अनेक रेकर्ड हैं। आप विश्वास मानें, जब चूहा अंधकार में बिजली के धक्के से बच कर निकलने का मार्ग ढूंढ़ता है, तो चूहों की दुनिया में वह न्यूटन और कोपरनिकस के स्थान का ही अधिकारी होता है। जो आर्थिक-व्यवस्था चल पड़ी है, उसमें से बहुत कम लोग आविष्कार करने की योग्यतावाले निकल पाते हैं। अधिकांश लोग इसी योग्य होते हैं कि मजूरी करते रहें और पेट भरते रहें। मैं दो सौ अविष्कारकों का नाम आपको बता सकता हूं, जो और परिस्थिति में होते तो भांड़ झोंकते होते। प्रतिभा तो बहुत बिखरी हुई है, पर सुयोग कहाँ है?

मिश्रजी—भई, व्यक्ति की प्रधानता तो मुझे भी स्वीकार है। मैंने इतिहास पढ़े हैं और लिखे भी हैं। मेरी अपनी राय यह है कि प्रतिभा नाम की एक शाश्वत वस्तु है, जो कभी इस व्यक्ति में और कभी उस व्यक्ति में प्रकट होती है। शेक्सपीयर और देव

स्वयं अन्य आविष्कार का कारण होता है। अगर किसी भी आविष्कार की आप छानबीन करें, तो आपको पता चलेगा कि सदियों से पेट की मार के कारण आदमी उस बात को खोज निकालने के लिए सिर मार रहा था।

रत्नाकरजी—शाबाश बेटा, मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ। तुमने पते की बात कही है। जरा-सी गलती तुमसे हो गई है। तुम जिसे पेट की मार कहते हो, आर्थिक आवश्यकता कहते हो, उसे मैं जीवन की आवश्यकता कहना चाहता हूँ आर्थिक आवश्यकता उसका एक हिस्सा है। बहुत-से आविष्कार और बहुत-सा इतिहास प्रेम के कारण हुआ है। तुम नहीं मानते ?

बलराज—आप मतिराम ग्रंथावली जैसे आविष्कारों की बात कहते होंगे ?

रत्नाकरजी—अबकी बार तुम्हारा पलड़ा हल्का होता जा रहा है। गम्भीर प्रसंग में मजाक छेड़ना हारने का लक्षण है। हाँ, मैं मतिराम-ग्रन्थावली जैसे आविष्कारों की भी बात कह रहा हूं। तुम शायद उस बात को आविष्कार नहीं मानना चाहते, जिसमें यांत्रिक होशियारी न हो। परन्तु, याद रखो कि यंत्रगत दक्षता मनुष्य नहीं बनाती। एक बन्दर अगर साईकल पर चढ़ने लगे और सिगरेट पीने लगे तो भी वह बन्दर ही रहेगा। मैं यांत्रिक आविष्कार को खोटा नहीं कहता ; पर वही एकमात्र सत्य नहीं है। दुनिया में उससे बड़ी-बड़ी बातें भी हैं। आज जिसके पास अधिक से अधिक मारात्मक वैज्ञानिक उपज है,

वही सभ्य कहला रहा है, चाहे उसमें पशुता अपनी चरम सीमा को पहुँच चुकी हो। यही वर्त्तमान युग का सब से बड़ा अभिशाप है। वह वस्तु, जो हृदय को मुलायम बनाती है, जो पर-दुःख को समवेदना देती है, तुम्हारी सभ्यता में बहुत नगण्य मानी जाती है। काव्य ऐसी ही वस्तु है। वह एरिस्टोक्रेसी या आॅटोक्रेसी की खुशामद नहीं करती। वह मनुष्य के हृदय को कोमल बनाती है, उसे दूसरों की पीड़ा के प्रति सहानुभूतिशील बनाती है। तुम्हारी यांत्रिक सभ्यता दानवी मशीन की ताकत रखती और संसार को मशीन से अधिक नहीं समझने देती। मतिराम-ग्रन्थावली उसका शाश्वत प्रतिद्वंदी है। वह मृदु और दृढ़ कंठ से कह रही है कि यांत्रिकता का दर्प बहुत दिन तक नहीं टिकेगा, मैं अभी जीवित हूँ।

भगवतीप्रसाद—हम मूल प्रश्न से दूर हो गए। बलराजजी का प्रश्न जहाँ-का-तहाँ है।

रत्नाकरजी—मुझे याद है, मैं उसी प्रश्न पर आ रहा हूँ। शर्माजी ने व्यक्ति की महिमा बताई थी और बलराज ने कहा था कि व्यक्ति परिस्थितियों की उपज हैं। मैं दोनों को मानता हूँ, इसीलिए मेरी बात तीसरी हो जाती है। मैं मानता हूँ कि व्यक्ति ही देश का नक्शा बदल देते हैं, परन्तु ये व्यक्ति अपने आप नहीं पैदा हो जाते। उनके लिए उपयुक्त परिस्थिति और उचित वातावरण की जरूरत होती है। व्यक्तियों को भी सुन्दर मूर्तियों की भाँति ढालना पड़ता है। संसार के अर्थशास्त्रियों से पूछो तो

शायद वे बतावें कि अगर सब धन सब लोगों में बराबर बाँट दिया जाय तो भी सब लोग औसत आराम के ढंग पर नहीं रह सकते। हजारों आदमियों को आधापेट भोजन देकर जिलाए रखने की अपेक्षा यह अच्छा है कि कुछ परिवारों को सदियों तक ऐसी सुविधाएँ दी जायँ, जिससे ऐसे पुरुष उत्पन्न हों, जो संसार को ऊपर उठा सकें, जो सर्वसाधारण की सुख-सुविधा के उत्तम साधन ढूँढ़ निकालें। जंगली जातियाँ, जिनमें ऐसी रईसी नहीं उपजी, अब तक जहाँ की तहाँ पड़ी हुई हैं। साम्यवाद ने उनको असभ्य अवस्था में रहने को बाध्य किया है। दूसरी तरफ उन जातियों को देखो, जो साम्राज्यवादी हैं, जो सामन्त-बहुल हैं, जो रईसी की कदर करती हैं। इन्होंने ही संसार को वह सब कुछ दिया है, जिसे तुम मनुष्यता कहते हो, कला कहते हो, काव्य कहते हो, दर्शन कहते हो। भारतवर्ष ऐसा ही देश है, ग्रीस और रोम ऐसे ही थे, इङ्गलैंड और फ्रांस का यही किस्सा है। क्यों भगवतीप्रसादजी, हम प्रश्न से दूर तो नहीं जा रहे हैं न? तुम्हारे अधरोष्ठ फड़क रहे हैं। तुम कुछ कहना चाहते थे क्या?

भगवती—जी, मैं आपकी बात समझने की कोशिश कर रहा हूँ। आप वृद्ध लोगों के सामने हमारी क्या हस्ती है?

शर्माजी—तुम शौक से अपनी बात कहे जाओ, बेटा। नाराज होनेवाले खूसट कहीं और होंगे।

भगवती—जी, रत्नाकरजी की बात दो कारणों से मेरी समझ में नहीं आ रही है। एक तो अगर उनकी बात मान ली

जाय तो यह समझ में नहीं आता कि किसी खास परिवार को सदियों तक सुविधा देने से अच्छे आदमी ही कैसे पैदा हो सकते हैं। बुरे भी तो हो सकते हैं और इतिहास में इस बात का सबूत है कि बुराइयाँ इस प्रथा से जितनी पैदा हुई हैं, उतनी भलाइयाँ नहीं। जिनको आपने अभी सद्गुण के रूप में गिनाया है; उनकी अगर तह खोल खोलकर जाँच की जाय तो मेरी बात ज्यादा स्पष्ट हो जायगी। कविता की बात ही लीजिए और उसमें भी हमारी आलोच्य कविता रीतिकाव्य की। परकीयाओं और सामान्याओं का जो यह निर्दोष कलापूर्ण चित्रण है, उसके मूल में क्या है ? रईसी की उच्छृङ्खल कामवासना। जिस समय रईसी अपने चढ़ाव पर नहीं आई होगी, उस समय इस प्रकार की वासना निश्चय ही गर्हित मानी जाती रही होगी ; पर रईसी ने जीवन में उसका उपयोग ही नहीं किया, इस भयंकर कुरीति को इस प्रकार विज्ञापित किया, मानो यह एक गुण है। जन-साधारण विश्वास करने लगा कि रईस हैं इसीलिए ऐसी सुंदर कविता बन रही है। तो, पहला कारण जो आपकी बात समझी जाने में बाधक है, वह यह है कि आप पहले मान लेते हैं कि वह कविता अच्छी है, वह कला अच्छी है, साम्राज्य फैलाना अच्छा है, और तब आप इनके कारणस्वरूप रईसी प्रथा का समर्थन करते हैं। रीतिकाव्य में जो कुछ भी अच्छा समझा जाता है, उसकी जाँच कीजिए, आपको फौरन पता चल जायगा कि शुरू-शुरू में वह किसी रईसी बुराई के रूप में थी। मुझे आप गलत न

समझिएगा। मैं बुराई और भलाई के शब्दों का व्यवहार उनके रूढ़ि-समर्थक अर्थों में कर रहा हूँ। ऐसा करने से मेरा अभिप्राय यह है कि आपको विश्वास दिला सकूँ कि रईसी प्रथा ने जिनको बुराई समझा है, उनहें भलाई के नाम पर उत्तेजन भी दिया है।

बलराज—आप अपने दूसरे कारण भी कह जाइए।

भगवती—जी, दूसरा कारण ही अधिक महत्वपूर्ण है। आपने (रत्नाकरजी ने) जो बात बताई, वह वही चीज हैं, जिसे किसी तथाकथित गांधीवादी ने अत्यन्त भद्दे तरीके पर 'आराम की सभ्यता' नाम दे दिया है। खैर, पुराने जमाने में क्या हुआ था, इसका तो मैं या आप केवल अनुमान ही कर सकते हैं; लेकिन हमारी आँखों के सामने जो कुछ घट रहा है, उसी पर से अंदाजा लगाया जाय तो आपकी बातों में सांत्वना पाने लायक कुछ नहीं रह जाता। मशीनें बनी थीं तो बड़े-बड़े विचारकों ने उम्मीदें बाँधी थीं कि संसार का बहुत परित्राण हो जायगा। मशीनें कम समय में अधिक माल तैयार करेंगी और इस प्रकार अधिकाधिक फुरसत मिलेगी और लोग ज्यादातर चिंतन और मनन में समय व्यतीत करेंगे और ऐसी बहुत-सी समस्याएँ, जो अभी तक हल नहीं हो सकी हैं, चुटकी बजाते हल हो जायँगी। पर हो क्या रहा है? मैं समझता हूँ, मशीनों ने हमारी चिंता को बहुत पीछे ढकेल दिया है। कुछ थोड़े-से लोगों को इतनी अधिक सुविधा मिली है कि वे दिन-रात ऐसे महापापों की फिक्र में व्यस्त रहते हैं, जिनसे जिंदगी में कुछ लज्जत आ जाय।

दूसरी तरफ भुक्खड़ मजदूरों और किसानों के कंकाल हैं, जो दिनभर जान लड़ाकर भी पेट नहीं भर पाते। इस आराम और सुविधा ने वैयक्तिक अर्थनीति को इतना प्रबल बना दिया है कि विराट जनसमूहों का भाग्य मुट्ठी भर खाली दिमाग और भरी गाँठ के आदमियों के हाथ में है। इसमें शरीर, मन और आत्मा की कुलीनता तो सिद्ध नहीं हो सकी, इनकी कब्र जरूर तैयार हो रही है। मैं मानता हूँ कि फुरसत समस्त कला, विज्ञान और दर्शनों की जननी है, पर इस फुरसत का अर्थ काम का अभाव नहीं है। आप जिन परोपजीवी पैरासाइटों की वकालत कर रहे हैं, उनके पास अभावरूप फुरसत होती है। गुस्ताखी माफ हो तो आप इस प्रकार के लोगों का पक्ष लेकर कार्य की महिमा कम कर रहे हैं। परिश्रम अपने आप में एक तपस्या है।

बलराज - वाह भाई, वाह, आपने बड़ी शानदार बात कही है, सुनकर तबीयत साफ हो गई। इतना और जोड़ दीजिए कि इस अभावरूप फुरसत के इर्द-गिर्द जो कला और दर्शन उत्पन्न होते हैं, वे भी अभावरूप होते हैं। धनिकतंत्र आपकी ऐसी कला, ऐसी फिलासफी या ऐसी तर्कप्रणाली को पनपने ही नहीं देगा, जो धनिकतंत्र के विरुद्ध पड़े। उसने सत्-असत् की अपनी परिभाषाएँ बना रखी हैं, तुम अगर कविता लिखो तो उस परिभाषा के अनुसार ठीक उतरनी चाहिए, दर्शन लिखो तो उस अर्थ चक्र के अनुकूल होना चाहिए, वस्तुतः रीतिकाव्य यही वस्तु है, जिसमें कवि स्वतंत्र भाव से कुछ चिंता नहीं करता।

उसे समाज की ओर से बनी-बनाई गढ़ी-छीली शब्दावली मिल जाती है, परिभाषा प्राप्त हो जाती है उसी पर से वह अपना छकड़ा हाँक देता है। यह गलत बात है कि रीतिकाल सत्रहवीं शताब्दी से शुरू होता है। वह हमेशा रहता है, कभी दबकर, कभी जमकर। आजकल क्या वह कहीं चला गया है? छायावादियों के अनन्त के पथ पर वह क्या जम नहीं गया है?

पण्डितजी—मेरा ख्याल है बलराजजी, कि हमने मूल विषय को छोड़कर अवांतर बातों पर ही बहुत बहस की है—

शर्माजी जमाना ही लपक —झपक का है।

पण्डितजी—आप अगर रीतिकाव्य पर जानने योग्य प्रामाणिक पण्डितों के मत सुनना चाहते हैं तो शुक्लजी, शर्माजी और मिश्रजी की उपस्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाना चाहिए, रत्नाकरजी की बात भी हमने आधी ही सुनी है, समझी उसकी भी आधी है। उन्होंने शुरू में ही शरीर, मन और आत्मा के सुसंस्कृत होने की बात कही थी, वह हमने भुला दी है। उन्होंने संयम की बात उठाई थी, उसकी ओर हमने ध्यान ही नहीं दिया। पहले हमें मूल विषय को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। फिर उसे वृहत्तर जीवन की पटभूमिका पर रख कर जाँच करने की हमें स्वाधीनता रहेगी। अब तक हमने आपलोगों की बात सुनकर जो कुछ समझा है, उससे इस विषय में तो संदेह नहीं रह जाता कि रीतिकाव्य में रईसाना समाज की बू है। फिर यह भी निश्चित है कि व्यक्ति इस समाज में प्रधान

वस्तु है, पर अगर मतिराम-ग्रन्थावली को एक बार अश्रान्त ध्यानपूर्वक भी पढ़ जाइए, तो यह पता नहीं लग सकेगा कि यह व्यक्ति मतिराम कौन है, उसने दुनिया को क्या देखा और कैसा देखा ? उसको कोई कायदा-कानून अच्छा-बुरा लगा भी या नहीं ? सब कुछ एक टाइप की बात है। नायिकाओं के टाइप हैं, नायकों के टाइप हैं, आनन्द और हर्ष के टाइप हैं, कष्ट और वियोग के भी टाइप हैं। बिहारी की अपेक्षा मतिराम ने व्यक्तिगत दृष्टि से क्या विशेष देखा था, या कितना विशेष देखा था, इसका कोई जवाब साधारण पाठक नहीं खोज सकता। इन विद्वानों से हमें ऐसे ही विषयों की चर्चा चलानी चाहिए थी। फिर, हमें यह भी जानकारी प्राप्त करनी चाहिए कि इतिहास के विशाल पट पर इस जाति के काव्य का कोई महत्व है भी या नहीं। मुझे तो इस काव्य की नैतिकता, ईश्वर, धर्म, समाज सब के विषयमें प्रश्न सूझ रहे हैं ; पर मैं जानता हूँ कि प्रश्नों से समस्याओं की मूल भित्ति तक पहुँचने की जर्नलिस्टिक रीति सर्वत्र फल-प्रसू नहीं भी होती। हमें प्रश्नों का ताँता न बाँधकर कुछ खास विषयों पर इन पण्डितों की बातें सुननी चाहिए।

बलराज—अर्थात् आप बृहत्तर जीवन से काटकर इसे अलग रख कर डिसेक्ट (चीर-फाड़) करना चाहते हैं।

पण्डितजी—बिलकुल नहीं, मैं किसी वस्तु को असीम काल-प्रवाह के भीतर से देखने का पक्षपाती हूँ। मैं मानता हूँ कि प्रत्येक घटना पूर्ववर्ती घटना का परिणाम है। वह अपने आप

में बुरी भी नहीं है, भली भी नहीं है,। अगर किसी भी घटना को—वह कितनी ही नगण्य क्यों न दिखती हो—हम ठीक-ठीक समझ सकें, तो उसकी पूर्ववर्ती घटना को समझ सकते हैं और परवर्ती घटना का अनुमान कर सकते हैं। परवर्ती घटनाओं का अनुमान लगाते समय या पूर्ववर्ती घटना का स्वरूप निर्णय करते समय हमें पार्श्ववर्ती अन्य घटनाओं का भी ध्यान रखना चाहिए। जितना ही हम इन पार्श्ववर्ती घटनाओं को ठीक-ठीक समझ सकेंगे, अभीष्ट निर्णय में हमें उतनी ही सफलता मिलेगी। मैं किसी वस्तु को अपने आप में स्वतंत्र नहीं मानता—ईश्वर और आत्मा को भी नहीं। परन्तु मेरी पहली और अंतिम शर्त यह है कि जिस वस्तु की जाँच करने के लिए हमने प्रयत्न शुरू किया है, उसका यथार्थ स्वरूप हमें मालूम हो जाना चाहिये। यह तभी हो सकता है, जब उस वस्तु के जितने संभव हों उतने अवयव अलग-अलग करके हम ब्योरेवार उसकी पड़ताल कर लें। ऐसा करते समय आपाततः ऐसा लग सकता है कि हम उक्त वस्तु को स्वतंत्र और अन्यनिरपेक्ष मानने की गलती कर रहे हैं, पर बात ऐसी नहीं है। बगीचे की सुगंधित हवा की सुगंधि का विश्लेषण करना और उसे समस्त वायुमंडल से विच्छिन्न समझना एक ही बात नहीं है।

बलराज—मैं आपकी बात समझ रहा हूँ। पर मुझे भय इस बात का है कि—गुरुजनों से मैं पहले ही क्षमा मांग लूँ—जो लोग व्यक्तिवादी होते हैं या स्वतंत्र आत्मा के स्वतंत्र कर्तृत्व में

अतिरिक्त विश्वास-पोषण करते हैं, वे बिस्मिल्ला ही गलत बोल देते हैं। यह नहीं कि परवर्ती घटना को देखकर पूर्ववर्ती का स्वरूप निर्णय करें, बल्कि यह कि न जाने कब की सड़ी-गली परिभाषाओं पर से परवर्ती घटना का स्वरूप निर्णय करते हैं। यह बात अत्यन्त हास्यास्पद तब हो जाती है, जब इन वस्तुओं का स्वरूप इनके भी बाद बनी परिभाषाओं पर से निर्णीत करने का प्रयत्न किया जाता है। एक उदाहरण दूं; बुद्धि रखनेवाले सभी जानते हैं कि साहित्य-दर्पण में महाकाव्य का जो लक्षण दिया हुआ है, जिसमें एक प्रख्यात वंश के कई वीर पुरुषों का काव्य का नायक हो सकना स्वीकार किया गया है, वह कालिदास के रघुवंश को देखकर उद्भावित हुआ था। परन्तु, आजकल कई टीकाकारों ने रघुवंश के काव्यत्व का प्रमाण उसी लक्षण श्लोक को बताया है! यह कितनी बेतुकी बात है!

शर्माजी – क्या कहना है!

बलराज – हाँ, और यह दूसरी बात भी हमें खटकती है। आप किसी चीज को महज विस्मयादिबोधक अव्ययों और वाक्यों के प्रयोग से बढ़ा या घटा देते हैं। शर्माजी इस प्रथा के जनक हैं। केवल यह कहकर कि 'कल्पना की कितनी ऊँची उड़ान है!' आप किसी वस्तु का स्वरूप नहीं निर्णय कर सकते। मैं तो कहता हूँ कि ऐसा करके आप उसे दुर्बोध्य बना देते हैं। मैं शुक्लजी की उस आतंकवादिनी शैली को भी बहुत खतरनाक मानता हूं, जो केवल पाठकों को आतंकित करके बुरी तरह रगड़

देती है। मैं यह नहीं जानना चाहता कि 'क' ने हावों की कैसी सुन्दर योजना की है या 'ख' ने विव्बोकों का कैसा प्रदर्शन किया है, मैं हावों और विव्बोकों को महत्त्व देनेवाली मनोवृत्ति का विश्लेषण चाहता हूँ।

पंडितजी—आपने इन पंडितों को ठीक नहीं समझा बलराज जी! किसी वस्तु के स्वरूप का निर्णय करना और उसे तीव्र भाव से अनुभव करना एक ही बात नहीं है। निर्णय के प्रसंग में विस्मयादिबोधक अव्यय बाधक होते हैं, तीव्र भाव से अनुभव कराने के प्रसंग में नहीं। शर्माजी ने निर्णय की ओर कम ध्यान दिया है, अनुभव कराने की ओर अधिक। उन्होंने मान लिया था कि जिस सुकुमारता को, जिस शालीनता को और जिस भंगिमा को वे अच्छी मानते हैं, उन्हें आप भी वैसा ही मानते हैं। पर, आज जब उन्हें हमने इस बात का अवसर दिया है कि वे उन बातों को हमें 'अच्छी' के रूपमें समझा दें तो उतावलेपन की क्या जरूरत है। और, शुक्लजी की बात को भी आपने अतिरंजित रूपमें रखा है। क्या रूपहीन चिंताओं को रूप-हीन परिभाषाओं में कहना गलत ढंग है? वे जब हावों और विव्बोकों का नाम लेते हैं तो इसलिए नहीं कि पाठक दबक जाय या आतंकित हो जाय, बल्कि इसलिए कि कम-से-कम शब्दों में अधिक से अधिक बात कह सकें। बेशक आपको उन्हीं के मुंह से उन हावों और विव्बोकों के पीछे काम करनेवाली मनोवृत्ति की

व्याख्या सुनने का हक है। मैं समझता हूँ, वे हमें निराश नहीं करेंगे।

श्रीमती तिवारी—मैं बड़े धैर्य से अब तक आपलोगों की बात सुनती रही; पर, मुझे ऐसा लग रहा है कि आपलोगों ने वास्तविक बात को छुआ ही नहीं। रीतिकाव्य में स्त्री का इतना अधिक, इतना गलत और इतना वाहियात चित्रण है कि वह स्वयमेव अपना प्रतिवाद हो गया है। आपने सोचा ही नहीं कि जिस काव्य की चर्चा आप करने जा रहे हैं, वह वस्तुतः एक विराट् शून्य है, एक गंदा जंजाल है, एक मिथ्या ढकोसला है।

रत्नाकरजी—आपने विषय को बिल्कुल दूसरे कोण पर से देखा है। वहाँ से देखिए तो आपको स्त्री-चरित्र की अपेक्षा रीतिकाव्य का पुरुष चरित्र अधिक हीन, अधिक असत्य और अधिक वाहियात दीखेगा। परन्तु, किसी वस्तु को किसी खास कोण से देखना, सही देखना नहीं है।

शर्माजी—मगर श्रीमती तिवारी का दृष्टिकोण एकदम उड़ा देने की चीज नहीं है। उसकी भी क्यों न जाँच हो जाय!

रत्नाकरजी—कोई हर्ज नहीं, मैं केवल उस दृष्टिकोण की बात कह रहा था। वस्तु की यथार्थता उसकी समग्रता में से प्रकट होती है, इस या उस पार्श्व की स्थिति पर से नहीं।

पंडितजी—तो आज यहीं रुका जाय। कल कृपापूर्वक आप-लोग पधारें, तो हमारी ज्ञान-साधना में कुछ सहायता मिले।

सब—अच्छा, आज यहीं तक!

इतिहास का सत्य

(एक काल्पनिक वार्तालाप)

स्थान—पुस्तकाध्यक्ष का कमरा।

उपस्थित व्यक्ति—

पुस्तकालय के अध्यक्ष (पण्डित जी)

रत्नाकरदास, शर्माजी, मिश्रजी—वृद्ध पण्डित

बलराज, मोहनलाल—नवीन साहित्यिक

रत्नाकरदास—हाँ पण्डितजी, तुम साहित्य की बात कहते-कहते इतिहास की बात कहने लगे थे। तुम्हारी बात कुछ ठीक समझ में नहीं आई। क्या उसका मतलब मैं यह समझूं कि साहित्य के इतिहास में पुस्तकों और पुस्तक-लेखकों का कोई स्थान है ही नहीं।

पण्डितजी—जी नहीं, मैं यह कह रहा था कि साहित्य का इतिहास ग्रन्थों और ग्रन्थकारों के उद्भव और विलय की कहानी नहीं है। वह कालस्रोत में बहे आते हुए जीवन्त समाज की विकास-कथा है। ग्रंथकार और ग्रंथ उस प्राणधारा की ओर सिर्फ इशारा ही करते हैं। वे ही मुख्य नहीं हैं। मुख्य है वह प्राणधारा जो नाना परिस्थितियों से गुजरती हुई आज हमारे भीतर अपने आपको प्रकाशित कर रही है। साहित्य के इतिहास में हम अपने आपको ही पढ़ने का सूत्र पाते हैं। जो प्राणधारा

नाना देशकाल की विभिन्न परिस्थितियों से गुजरती हुई हमारे भीतर तक पहुँची है वही किसी भी इतिहास का मुख्य लक्ष्य है। मैं उन समस्त पुस्तकों का एक स्वर से प्रतिवाद करता हूँ जो इतिहास के नाम पर चला दी गयी हैं, पर इस प्राणधारा को प्रकट करने में असमर्थ हैं। व्यक्तियों को असंबद्ध विवरण हमें बार-बार याद दिलाता है कि इस बृहत् मानव-इतिहास में एक ही बात बार-बार घटित हुई--मृत्यु ! जीवन का प्रवाह अव्वल तो उसमें दिखाई ही नहीं देता और यदि कचित् कदाचित् दिख गया तो ऐसा लगता है कि बार-बार वह मरुकान्तर में खो गया है। प्रत्येक बार उसे नये सिरे से यात्रा करनी पड़ी है। यह मनोवृत्ति ही गलत है। मैं इतिहास को जीवन का अनिरुद्ध स्रोत मानता हूँ और दृढ़ता के साथ कहना चाहता हूं कि यही मानना सही मानना है।

बलराज—वाह पंडितजी, अपने बड़ा शानदार बात कही है। सुनकर तबियत साफ हो गई। इतना और जोड़ दीजिए कि इतिहास कभी अपने आपको दुहराया नहीं करता। अंग्रेजी की वह कहावत इस देश मे वेद वाक्य की तरह मान ली गई है कि इतिहास अपने आपको दुहराया करता है। प्रतिक्षण परिस्थितियाँ बदल रही हैं; क्रिया और प्रतिक्रिया का रूप बदलता जा रहा है और प्रतिक्षण जीवन-धारा अपने आपको नवीन रूप में प्रकाशित कर रही है। इसी नवीनता के अनिरुद्ध प्रवाह का नाम इतिहास है। इस दुनिया की सबसे अधिक शानदार बात यही है कि हम चल रहे हैं, स्थिर नहीं हैं। किसी जमाने में शाश्वत और सनातन

होना बड़ा भारी गुण माना जाता था। वस्तुतः यह शाश्वत और सनातन मनुष्य की एक अतृप्त वाञ्छा से उत्पन्न सुखद कल्पना है। सब मिलाकर इससे यही सिद्ध होता है कि मनुष्य जीवन को कितना प्यार करता है।

पंडितजी—जरा रुको बलराजजी, तुमने बहुत सी बातें एक में सान दी हैं। मैं नवीनता और क्षणिकता को अलग-अलग वस्तु मानता हूँ। नवीनता जीवन का प्रतीक है, क्षणिकता मृत्यु का। मैं नित्य नवीन होने ही को मानव-जीवन का मूल सूत्र मानता हूं।

रत्ना---अविचारित रमणीय इसी को कहते है। अच्छा पंडितजी, सचमुच ही क्या मृत्यु इतिहास का एक बड़ा सत्य नहीं है। मैं तो इतिहास की सुदीर्घ परम्परा पर एक दृष्टि डालता हूँ तो शुरू से आखिर तक उसमें मृत्यु की काली छाया दिखाई देती है। भारतवर्ष बहुत पुराना देश हैं। इतना पुराना कि ऐतिहासिकों के अकल बार-बार धक्का खाकर पीछे की ओर ही भागते रहते हैं। और आज यह कह सकना बड़ा मुश्किल है कि उसके प्रागैतिहासिक काल को मर्यादा कहाँ रखी जाय? बड़ी-बड़ी सभ्यताएँ उसके आसमुद्र-विस्तीर्ण भूमि पर उद्भूत और विलीन हो चुकी हैं। बड़े-बड़े धर्म और दर्शन प्रचलित और विस्मृत हो चुके हैं। बड़े-बड़े विजेता और लुटेरे इसको समान भाव से विध्वस्त कर चुके हैं। और सर्वत्र एक ही बात अत्यंत स्पष्ट होकर प्रकट हुई है—मृत्यु। मोहनजोदड़ो को समृद्ध

नागरिक सभ्यता इस प्रकार मरी जान पड़ती है जेसे उसके हृदय की गति एकाएक बंद हो गई हो। रोग नहीं, शोक नहीं, और हठात् मृत्यु। महान् मौर्यसम्राटों के स्थापित स्मृति-चिन्हों को जैसे लकवा मार गया हो, ज्यों के त्यों खड़े हैं पर जीवनी-शक्ति से हीन, हिलन-डुलने मे असमथ! मैं जब महरोली के लौहस्तम्भ पर खुदी हुई चद्रगुप्त की कीर्ति-कथा को पढ़ता हूं तो आश्चय से देखता ही रह जाता हूं। कहाँ है वह विशाल भुजा जिस पर शत्रुओं के खड्ग से कीर्ति कथा लिखी गई थी, जो बंग से लेकर वाह्लीक तक आतंकित किये हुए था और आज भी जिसके पराक्रम की सुगंधित हवा दक्षिणी समुद्र को सुवासित कर रही है! आज भी मैं कुटकाल की कुटिल हँसी मूर्तिमान हो गई है—अहा 'यस्याद्या प्यधिवाम्यते जलनिधि वीर्यानिलैर्दक्षिणः' !! और भी तुम कहते हो मृत्यु इतिहास का सत्य नहीं है। मिश्र के ऊँचे ऊचे पिरामिडों की बात सोचता हूँ तो हैरान हो रहता हूँ। किसी युग में वह मानववीर्य का अप्रतिद्वन्द्वी दिग्दर्शन था पर आज अगर अमेरिकान सेना साल-दो साल के लिए भी वहाँ जाना बद हो जाय तो विश्वास मानो कि रेगिस्तानी आँधी उसके ऊँचे से ऊँचे शिखर को हमेशा के लिए बालू से ढँक दे और फिर भी तुम कहते हो कि मृत्यु इतिहास का सत्य है ही नहीं। तुम उसे काला धब्बा कह लो पर वह सत्य--

शर्मा जी

"अहन्य हनि भूतानि, गच्छन्ति यम-मदिरम्।

जीवितुमिच्छन्ति, किमाश्चर्यं मतः परम्" ॥ महाभारत

[प्रति-दिन जीवगण यमलोक को जा रहे हैं, फिर भी जो
च रहते हैं, वे जीवित रहना चाहते हैं। इससे बढ़कर
आश्चर्य क्या हो सकता है।]

रत्ना०—सचमुच ही 'किमाश्चर्यमतः परम्!'

शर्मा०—केवल हृदय की गति रूद्ध हो जाना या लकवा मार
जाना ही इतिहास का सत्य नहीं है। कम-से-कम साहित्य के
इतिहास में तो गला घोंट देना एक विशेष प्रकार की कला है।
यह आधुनिक युग की देन है। हमारे देखते-देखते कितने नव-
जात साहित्यिक वादों का गला घोंट दिया गया है। साहित्य
की वह रसवती प्राण-धारा जिसने बिहारी को बिहारी और
पद्माकर को पद्माकर बनाया था इस बुरी तरह मार डाली गई है
कि आश्चर्य होता है।

बल०—गुस्ताखी माफ हो शर्माजी, उसने आत्मघात कर
लिया है। हाँ, छायावाद का गला घोंट देने के लिए बुजुर्गों ने
अलबत्ता कम कोशिश नहीं की है, पर कम्बख्त फिर भी बचा
हुआ है।

मोहनलाल—नहीं बलराजजी, ताजी खबर यह है कि उसने
भी अपने अनुचर रहस्यवाद के साथ आत्मघात कर लिया है।
पोस्टमार्टम के विषय में अभी डाक्टरों में मतभेद है पर मरने के
पहले अपने कुटम्बियों के नाम उसने एक चिट्ठी टेबिल पर रख
छोड़ी थी। उस चिट्ठी के अनुसार आत्मघात का कारण यह

बताया जाता है कि किसी नवजात साहित्यिक वाद .शिशु के साथ—जो कपड़े पहनने के पहले ही नंगा ही दौड़ने लगा है—दौड़ने में पूरा न पाने के कारण दोनों मित्रों ने लज्जावश ऐसा कर लिया है !

शर्मा०—शिव ! शिव ! !

पं०—(रत्नाकरजी से) आपने जो कुछ कहा है उसे मैं समझता हूँ पर मैंने कब कहा है कि मृत्यु इतिहास का सत्य नहीं है। मैं कहता हूँ पर कि मृत्यु जीवन का उत्स है। वह प्रधान नहीं है। प्रधान है अशेष जीवन–धारा। सचमुच ही एक बार महा-भारतवाले उस श्लोक की गहराई में जाया जाय तो मेरी बात स्पष्ट हो जायगी। प्रतिदिन लोग मर रहे हैं, कौन नहीं जानता कि मृत्यु उसके सिर पर मँडरा रही है फिर भी सब जीना चाहते हैं। महाभारतकार इसे 'आश्चर्य' कहते हैं, मैं इसे 'रहस्य' कहना पसन्द करूँगा। पुश्त-दरपुश्त से मृत्यु की ध्रुवता को जानकर भी मनुष्य क्या अभी तक यह नहीं सीख पाया कि जीवन व्यर्थ है ! मनुष्य को इस बात की याद दिलानेवाले शक्ति-शाली महात्मा अनेक हो गए हैं; शास्त्र भी बहुतेरे लिखे गए हैं, आंदोलन भी कम नहीं चलाये गये हैं, फिर भी मनुष्य समझ नहीं पाया ! मेरी दृष्टि में यह समझ न सकना अपने आप में एक जबर्दस्त प्रमाण है कि इन उपदेशकों, शास्त्रों और आंदोलनों की प्रथा गलत है कि मृत्यु ही सत्य है। मुझे यह विश्वास करने में शर्म मालूम होती है कि हम लोगों की यह दुनिया अनन्त कोटि

मूर्खों की वास-भूमि है। मृत्यु अगर जीवन का सत्य होता तो आज हजारों वर्ष पहले से मनुष्य ने जीवनेच्छा को नमस्कार कर दिया होता। आप लोग 'व्यक्ति' का अपने मन में इतना ऊँचा स्थान दिये हुए हैं कि 'समूह' की बात ही भूल जाते हैं। व्यक्ति का उद्भव-विलय बराबर होता रहता है पर कभी आपने यह भी सुना है कि समूचा समाज का समाज मर गया हो। कभी भी क्या ऐसा समय बीता है कि जब पृथ्वी पर मानव-समूह निश्चित हो गया हो। वस्तुतः समाज बराबर था और बराबर है। समाज के रूप में जीवित रहने को ही मनुष्य अपने वृहत् मानस-पट पर अंकित किये हुए है। एक व्यक्ति व्यक्ति रूप से नष्ट हो सकता है पर पुत्र-पौत्र परम्परा से वह निरंतर जीता रहेगा। इसी जीवनेच्छा ने सन्तान-स्नेह को मानव-हृदय में प्रतिष्ठित किया है। ज्ञानी जब उसे माया कहता है तो बड़ी भारी गलती करता है। वह इसे ठीक नहीं समझ पाता। वस्तुतः व्यक्ति का आपसी सम्बन्ध उसके समाज रूप में जीवित रहने का ही द्योतक है।

शर्माजी—पण्डितजी को व्यक्तिवादियों से बड़ी चिढ़ है। समय असमय, मोके बेमौके वे हमें बराबर याद दिला देते हैं कि हम व्यक्तिवादी हैं इसलिए निरे ठूँठ हैं और चूँकि वे समूहवादी हैं इसलिए वस्तु की वास्तविक मर्यादा के सच्चे जानकार हैं। गुस्ताखी माफ हो तो व्यक्तिवादी एक शाश्वत-सनातन अमर आत्मा में विश्वास करते हैं और मृत्यु को उससे अधिक महत्व नहीं देते, जितना एक व्यक्ति पुराना कपड़ा छोड़ने को देता है।

व्यक्तिवादी होने से कोई मृत्यु को प्रधान कैसे मान लेता है, यह बात समझ में नहीं आती। और जिस अर्थ में व्यक्ति की मृत्यु होती है उस अर्थ में समाज की मृत्यु होती है। पण्डितजी पूछते हैं कि क्या कभी आपने यह भी सुना है कि एक समाज पूरा का पूरा निश्चिह्न हो गया हो? हाँ मैंने तो सुना है। ग्रीक समाज आज मिट गया है। सीरिया और बैबिलोनिया की सभ्यता के उन्नायक आज निश्चिह्न हैं और स्वयं भारतवर्ष का इतिहास साक्षी है कि विशेष-विशेष सभ्यता और संस्कृति के पोषक-समूह यहाँ से उठ गए हैं। जब आप कहते हैं कि व्यक्ति के मर जाने पर भी समाज जीता रहता है तो मुझे उस जुलाहे की कहानी याद आती है जिसने अपने हुक्के का नारियल सात बार बदला था और लकड़ी भी सात बार और फिर भी उसका दावा था कि हुक्का वही है।

बलराज—शर्माजी, आपकी बात मैं समझ नहीं सकता हूं। मुझे शास्त्र वाक्यों का व्याख्या मत समझाइए। मैं सीधी बात को सीधी भाषा में समझना चाहता हूं। क्या समस्त आत्म-वादियों का यह मत नहीं है कि भव-जाल विकट है, मायाचक्र अनन्त है, संसार दुःख का आगार है, विघ्न-वाहिनी पद-पद पर बाधा देने को कटिबद्ध है, गृहस्थ लाचार हैं। यह क्या घोर निराशावाद नहीं है? क्या मनुष्य-जीवन इस प्रकार के विचार-वालों की दृष्टि में दुःखशोक का प्रचण्ड जाल नहीं है?

रत्नाकरजी—शाबाश बेटा, तुमने बात बहुत पक्की और पते

की कही है। हाँ, सचमुच ही भव-जाल ऐसा ही है। पर उसे निराशावाद नहीं कहते। तुम शायद आशावादी हो। मैं तुमको आशावाद का ऐतिहासिक विकास बता दूँ। याद रखो कि आशा-वाद जैसी बात बहुत हाल का आविष्कार है। बहुत हाल का। आज से दो-सौ वर्ष पूर्व योरोप के विचारशील पुरुषों के सामने दुनिया बदलती हुई प्रकट हुई थी। पश्चिमी धार्मिक जनता के लिए गैलिलियो, कोपरनिक्स और न्यूटन की बातें जितनी ही आश्चर्य-जनक थीं, उतनी ही झकझोर देनेवाली। ये विचार कि यह पृथ्वी समस्त विश्व-ब्रह्माण्ड के केन्द्र में नहीं है, और मनुष्य भगवान् की सब से श्रेष्ठ-सृष्टि नहीं है, बाइबिल की महिमा पर प्रचण्ड आघात करते थे। इन विचारकों के विचारों को रोकने की बहुत चेष्टा की गई पर सफलता नहीं मिली। भाफ के एंजिन और छापे की मशीन नया संदेश लेकर आई। विचारशील लोगों ने स्पष्ट देखा कि दुनिया बदल रही है। मशीनें मनुष्य को गुलामी से मुक्त कर देंगी, सब को सुख-समृद्धि समान भाव से मिलेगी। इस आशावाद ने अट्ठारहवीं शताब्दी के यूरोपियन लेखकों को रामराज्य की कल्पना के लिए उत्तेजित किया। अट्ठारहवीं शताब्दी का अन्तिम हिस्सा आशावाद के जय गान का युग है। कवि और नाटककार मनुष्य की महिमा का गान गाने में अघाते नहीं दिखते। प्रसिद्ध फ्रांसीसी लेखक कोन्डरसेट इस आशावादी साहित्य का ऐसा विधाता है जिसकी कहानी एक ही साथ करुणा-पूर्ण और स्फूर्ति-दायक है। इस अभागे आशावादी ने

फ्रांस के कई संभ्रांतवंशीय अन्य रईसों की भाँति राजा के वध के विरुद्ध मत दिया था। इस अपराध पर प्रजातन्त्री विद्रोहियों ने इसे एक छोटे से गंदे कमरे में बंद कर दिया। इसी काल-कोठरी में उसने मानव-प्रगति के भविष्य के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिखी। पुस्तक समाप्त होते ही वह अपनी काल-कोठरी से निकल भागा और दूर के एक गाँव की सराय में शरण ली। उसके हाथ में सदा जहर की पुड़िया रहती थी। वह जानता था कि एक बार विद्रोहियों की सनक का शिकार होते ही उसे कुत्ते की मौत मरना होगा। अपनी आँखों के सामने उसने अपने सगे संबन्धियों के चिथड़े उड़ते देखे थे। ऐसी मानसिक अवस्था में उसने मनुष्य पर जो ग्रंथ लिखा उसे देखने पर आश्चर्य में पड़ जाना पड़ता है। मनुष्य की सद्‌बुद्धि पर उसके विवेक पर, उसकी न्यायशीलता पर, उसकी महिमा पर, उसका अटूट विश्वास था। एक दिन सराय में अपने को विद्रोहियों से घिरा देख कर इस अपराजेय आशावादी ने जहर खाकर प्राण दे दिए। मैं ठीक कह रहा हूँ, बलराज !

बलराज—जी हाँ, आप ठीक कह रहे हैं। पर कोंडरसेट को शायद आप इसलिये स्मरण कर रहे हैं कि इस मत की मद हो। पर सचमुच ही मशीनों ने अचरज ढाना शुरू किया। उन्नीसवीं शताब्दी के यूरोपियन देशों ने इन मशीनों के बल पर संसार को रौंदना शुरु किया। दुनिया की समृद्धि यूरोप में आने लगी। बड़े-बड़े साम्राज्य स्थापित हुए। इन साम्राज्यों का उद्देश्य प्राचीन-

वर साम्राज्यों की भाँति विषय-लालसा की पूर्ति नहीं था। उनका उद्देश्य व्यवसाय की सुविधा प्राप्त करना था। यूरोप में व्यवसाय ने एकाएक नया रूप धारण किया। बड़े-बड़े शहर बसने लगे, फैक्टरियाँ खड़ी हुईं, सामन्त और जमींदारी प्रथा पर उसने जबर्दस्त आघात किया। व्यावसायिक क्रांति हुई। व्यवसाय के लिये नयी-नयी वस्तुओं का आविष्कार होने लगा। पूंजीपतियों ने विज्ञान के अध्ययन को प्रोत्साहन दिया। नयी यूनिवर्सिटियाँ और कालेज खुलते गए। मशीनें बढ़ती गईं। उनकी पूर्ति के लिये पदार्थ विज्ञान और अन्यान्य जड़ विज्ञान उन्नति करते गए। मशीनों के इस बढ़ते हुए प्रभाव ने मानव-मस्तिष्क को अभिभूत कर लिया। मनुष्य ने विजय-गौरव से आत्म-निरीक्षण करके कहा—मैं ही सब कुछ हूँ। मनुष्य प्रकृति पर विजय पा सकता है, मनुष्य दुनिया से अन्धविश्वास और घृणा के भाव दूर कर सकता है। मनुष्य आकाश और पाताल में अपनी जय-ध्वजा उड़ा सकता है। आशा और उल्लास से, प्रसाद जी की भाँति, इस युग के मनुष्य ने भी कहा—

विधाता की कल्याणी सृष्टि
सफल हो इस भूतल पर पूर्ण
पटें सागर, बिखरें ग्रह-पुंज
और ज्वालामुखियाँ हों चूर्ण।
उन्हें चिनगारी सदृश सदर्प
कुचलती रहे खड़ी सानंद,

आज से मानवता की कीर्ति
अनिल, भू, जल में रहे न बन्द।
जलधि के फूट कितने उत्स
द्वीप-कच्छप डूबें उपरायँ,
किंतु वह खड़ी रहे दृढ़ मूर्ति
अभ्युदय का कर रही उपाय।
शक्ति के विद्युत्कण जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं हो निरुपाय,
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।

रत्नाकरजी—हाँ बलराज, तुम मेरी ही बात कह रहे हो। तुम्हारे इस वक्तव्य का मैं समर्थन ही करता हूं। सुनते जाओ। यंत्रों की सफलता ने मनुष्य के मन में नास्तिक का भाव ला दिया। उन्नीसवीं शताब्दी संदेहवाद का युग है। मनुष्य ने ईश्वर पर संदेह किया है, धर्म पर सदेह किया, शास्त्र पर संदेह किया और फिर भी वह आशावाद का युग है क्योंकि उसने अपने ऊपर संदेह नहीं किया। उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग में सुप्रसिद्ध दार्शनिक आगस्ट कोंत (Augast Comte) ने एक नये सिद्धांत का प्रचार शुरू किया। पश्चिम में इसे 'पाजिटिविज्म' Positivism कहते हैं।

'इस पंडित के मत से मानवीय ज्ञान अब तक तीन सीढ़ियों तक चढ़ चुका है। (१) धार्मिकता, (२) दार्शनिकता, और

(३) वैज्ञानिकता। पहिली अवस्था में आदमी नाना-देवी-देवताओं में और अन्त में ईश्वर में विश्वास करता था। दूसरी में उन देवी-देवताओं और तटस्थ ईश्वर को छोड़कर उसने एक सर्व-व्यापी चेतन सत्ता की कल्पना की। ये दोनों अवस्थाएँ अब पार हो चुकी हैं। अब मनुष्य अपने सुख-दुःख के लिए देवी देवताओं या ब्रह्म-सत्ता का मुखापेक्षी नहीं है। अब उसने दुनिया के रहस्य को बहुत कुछ समझ लिया है और भविष्य में अधिकाधिक समझने योग्य होता जायगा। इसीलिये अब देवी देवताओं की या भगवान् की या सर्व-व्यापक चेतन-सत्ता की उसे जरूरत नहीं है। परन्तु चूंकि मनुष्य में का धार्मिक भाव बहुत प्रवल है, वह किसी-न-किसी वस्तु पर विश्वास किए विना रह नहीं सकता इसलिये इस पंडित ने ईश्वर के स्थान पर मानवता की प्रतिष्ठा की सिफारिश की। मानवता की सेवा करना ही वस्तुतः पूजा और उपासना है। मनुष्य के सिवा और कोई ईश्वर नहीं है। इस सिद्धांत का यूरोप में उन दिनों खूब स्वागत हुआ। वस्तुतः तब से अब तक किसी-न किसी रूप में मानवता साहित्य और दर्शन में ईश्वर का स्थान पाती ही आ रही है। मनुष्य की महिमा में विश्वास करना ही इस सिद्धांत का मूल मंत्र है। क्यों वत्सराज !

वत्सराज—जी हाँ, सही बात है।

मोहनलाल - परन्तु यह नियति का मजाक ही कहा जाना चाहिए कि उक्त दार्शनिक जब मनुष्य की प्रगति की वकालत कर रहा था और उसकी सद्वृत्तियों पर, और उसकी न्याय-बुद्धि

परऐसे विश्वास की घोषणा कर रहा था उसी समय भारतवर्ष में सन् सत्तावन की भयङ्कर प्रतिहिंसाग्नि धधक रही थी, राज-मार्ग रक्त से पिच्छिल हो रहे थे और शस्य श्यामल मैदान धुएँ और राख से ढँक गए थे। मानों अदृश्य चेतन सत्ता को इस मजाक में कुछ मजा आ रहा था। उसने इसी साल कौंत को दुनिया की सतह पर से पोंछ दिया। और दूसरे ही साल सुप्रसिद्ध डार्विन ने अपने नये आविष्कारों से दुनिया को चकित और क्षुब्ध कर दिया। इस बार देखा गया कि मनुष्य ईश्वर नहीं, पशु है। वह पशुओं में से ही उपजा है। निरंतर संघर्ष में विजयी होने के कारण ही वह बचा हुआ है। इस दुनिया में वही बचता है जो बचने में सबसे योग्य होता है, जो अपने इर्द-गिर्द के शत्रुओं की चल-बल से और बहुबल से जीत सकता है। इस आविष्कार ने दुनिया के चिंता-शील लोगों को एक बार फिर झकझोर डाला। इसने दुनिया को नयी दृष्टि दी। कुछ भी ज्यों का त्यों जैसा आज दीख रहा है—नहीं आया। सभी वस्तु, सभी विचार, सभी समस्याएँ काल-प्रवाह में बहती हुई, परिस्थितियों से टकराती हुई, निरंतर परिवर्तित होती हुई आ रही हैं। डार्विन का आविष्कार प्राणि शास्त्र के क्षेत्र में था, परन्तु उसने मनुष्य की सारी मनीषा को नये रास्ते पर मोड़ दिया। प्रो० हिरेनूशा ने ठीक ही कहा है कि उन्नीसवीं शताब्दी की चिन्ता की सबसे बड़ी कुञ्जी डार्विन का विकासवाद है। छोटे-से-छोटे धूलिकण से लेकर विशाल सौर-जगत् और और

भी विराट् नागगुच्छ इसकी लपेट से नहीं बच सके। यहां तक कि इस विचार ने ईश्वर को और आत्मा को भी प्रयोगशाला में बैठा दिया। जिस विचार ने इस प्रकार मनुष्य की चिन्ता में क्रांति ला दी उसने साहित्य को कितना प्रभावित किया था यह अनुमान का ही विषय है।

वनराज जी, उस युग में विकासवाद का बड़ा विरोध हुआ था पर आज कोई शास्त्र ऐसा नहीं है जो विकासवाद को किसी न-किसी रूप में स्वीकार न करता हो। इतिहास को समझने में इस शास्त्र ने बहुत सहायता दी और इतिहास के समझने का अर्थ होता है जीवन प्रवाह को समझना। इस प्रकार मनुष्य अपने जीवन-प्रवाह के विषय में एक अविसंवादी तथ्य का पता पाकर बहुत कुछ आश्वस्त तो हुआ पर उसके आशावाद ने नया रूप ग्रहण किया। मैं उसी नये रूप का कायल हूँ।

पंडितजी लेकिन वनराज, इतना ही सब कुछ नहीं है। एक पार्श्व से देखना ही सही देखना नहीं है। ईसा की उन्नीसवीं शताब्दी का प्रथमार्द्ध जहाँ मनुष्य को नयी आशा और नयी उमंगों से भर रहा था वहाँ वह संवेदनाशील लोगों को निराशावाद की ओर भी ले जा रहा था। बड़े-बड़े शहरों के बसने से और बड़ी-बड़ी फैक्टरियों के स्थापित होने से जहाँ योरप की बाह्य सम्पत्ति बढ़ती जा रही थी वहाँ उसका आन्तरिक जीवन दुर्भर होता जा रहा था। व्यावसायिक क्रांति ने राजकीय और आर्थिक शक्ति को सामन्त वर्ग के हाथ से खींच कर व्यव-

साम्ती समुदाय के हाथ में कर दिया था; राजनीति में ही नहीं, साधारण आचार विचार और विश्वास में भी प्रजातन्त्रवाद का जोर था। सामन्तशाही के विरुद्ध जो तीव्र आंदोलन हुआ उसने साधारण व्यक्ति को अपनी स्वाधीनता मे आस्थावान् बनाय, शहर के भीड़-भम्भड़ ने सदाचार के नियमों को शिथिल कर दि ा, शिक्षा-प्रचार और वैज्ञानिक शोधों ने एक ही साथ वंश गत प्रतिष्ठा और धार्मिक शासन के विरुद्ध बगावत का भाव ला दिया। इस प्रकार वैयक्तिक स्वाधीनता का जन्म हुआ। आडम स्मिथ ने सुझाया कि किसी राष्ट्र की सम्पत्ति उसके व्यक्तियों की योग्यता और स्वाधीनता पर ही निर्भर करती है। यह ध्यान देने की बात है कि उन दिनों जब वैयक्तिक स्वाधीनता और समानता की बात कही जाती थी तब आज की भांति सब छोटे-बड़े की बात नहीं समझी जाती थी बल्कि कुलीन और सामन्त वर्ग के शासन से मुक्त होने की और मध्यवित्त के लोगों का उनके समान समझे जाने की बात समझी जाती थी। व्यवसाय की प्रधानता ने कुलीन पुरुष का यह दावा कि वह भगवान् की ओर से कुछ विशेष गुण लेकर उत्पन्न हुआ है, निर्मूल सिद्ध कर दिया। व्यवसाय मे, जनता के व्याख्यान-मञ्च पर और अखबारों मे चमकने के लिये कुलीनता की कोई जरूरत न ी थी। इसका नतीजा यह हुआ कि मध्यवित्त के लोगों में एक प्रकार ि व्यक्तिगत अहंकार का भाव आता गया। यहाँ तक कि यह तर्क भी उपस्थित किया जाने लगा कि यदि

वैज्ञानिक स्वाधीनता व्यवसाय-वाणिज्य में अच्छी है तो वह सदाचार और राजनीति के क्षेत्र में क्यों नहीं अच्छी होगी! गाडविन ने निःसंदिग्ध होकर इस प्रकार प्रचार करना शुरू किया कि मनुष्य स्वभावतः सदाचारी है। अगर सभी कानून और नियम रद्द कर दिये जायँ तो मनुष्य की बुद्धि में और चरित्र में निस्संदेह अभूतपूर्व उन्नति होगी। सुप्रसिद्ध कवि शेली ने इन्हीं विचारों को छंदों-बद्ध किया और केवल दार्शनिक गाडविन की भाँति विचारों की ही दुनिया में नहीं भटकता रहा बल्कि जीवन में कार्यान्वित भी किया। जब वृद्ध गाडविन अपनी जवानी के इन विचारों को तिलांजलि दे चुका था, तब भी उसके इस विचार-परिवर्तन की परवा किए बिना उक्त कवि उसकी कन्या की सहायता से इस नवीन वैयक्तिक स्वाधीनता का अभ्यास करता रहा। कवि जब संसार की मङ्गल-विधायिनी सत्ता को स्वीकार न करता हो, और फिर किसी सामाजिक नियंत्रण की भी परवा न करता हो तो जीवन के प्रत्यक्ष अनुभव उसे निश्चय ही निराशावादी बना देंगे। क्योंकि साधारण दुनिया उतनी अग्रसर नहीं हुई होती जितना अग्रसर होने की आशा कवि उसके निकट से किए रहता है। शेली ने भी इसीलिये जीवन को एक भार ही समझा। वह अपने विचारों के साथ संसार को चलता हुआ न देख कर घोर निराशावादी हो गया। वह बहुत थोड़ी उमर में मर गया पर उसके एक प्रशंसक ने ठीक ही लिखा है कि वह बहुत दिन तक जिया क्योंकि उसका प्रत्येक

क्षण औरों के वर्ष से भी अधिक था। उस युग के अन्य कवियों-वायरन, कीट्स और वर्ड्स्वर्थ में भी निराशावाद का सुर है। उन दिनों का यूरोपियन काव्य-साहित्य इस सुर से भरा पड़ा है। वर्तमान की विसदृशताओं से ऊब कर कविगण एक काल्पनिक अनुकूल जगत् के निर्माण में लगे रहे।

'इन दिनों की यूरोपियन चिन्ताधारा में नियतिवाद का जोर था। निराशवादी सभी कवि जड़ प्रकृति की एक नियत स्वाभाविक परिणति में विश्वास करते थे। यह प्रकृति किसी की परवा किए बिना अपने रास्ते चली जा रही है। जो कोई भी इस प्रवाह में पड़ता है वह बह जाता है, उसको रोकने की ताकत मनुष्य में नहीं है। अपने सुख और दुःख का विधाता स्वयं मनुष्य नहीं है बल्कि उसके सुख और दुःख सभी एक नियति-प्रवाह के ऊपर निर्भर करते हैं। इस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य-भाग में नाना प्रकार की स्वाधीन चिन्ताएँ यूरोपियन विचार-धारा को एक खास दिशा में मोड़ रही थीं। उसी की परिणति का नाम 'माडर्निज्म' (Modernism) है। उसमें ईश्वर का स्थान मनुष्यता ले चुकी थी, पर मनुष्यता को ईश्वर की भाँति सर्व-गुण संपन्न नहीं माना गया था, उसके दोष, गुण आदि सभी स्वीकार कर लिये गए थे। धर्म नाम से प्रचलित पुराने विश्वास-प्रवण मतवाद के स्थान पर तर्क-प्रवण नवीन मतवाद जन्म ले चुका था! विचार-शील लोग स्वीकार कर चुके थे कि मनुष्य नियति के हाथ का एक खिलौना है, या फिर यह कि मनुष्य

प्रकृति को अपने कब्जे में ले आ सकता है।

बलराज—लेकिन सब मिला कर उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में निराशावाद निश्चित रूप से उतार पर आ गया था। आशावाद ने वह नया रूप धारण किया जिसे मैं चरम सत्य मानता हूं। विकासवाद की प्रतिष्ठा ने यह साबित कर दिया कि मनुष्य पशु की अवस्था से निरन्तर विकसित होता हुआ इस अवस्था तक पहुँचा है। उसका शारीरिक विकास प्रायः समाप्त हो आया है पर मानसिक विकास बहुत कम हुआ है। वह निरन्तर पूर्णतर ज्ञान की ओर बढ़ रहा है। मैं जेम्स के इस मत का बड़ा आदर करता हूँ कि वही सब से बड़ा सत्य है जिससे मनुष्य का हित सधे।

शर्माजी—मैंने धैर्य से तुम्हारी बातें सुनी हैं, पर जिसे तुम उन्नसवीं शताब्दी या अठारहवीं शताब्दी की विचारधारा कहते हो वह इतनी नयी भी नहीं है और इतनी दूर की भी नहीं है। घर की ओर क्यों नही देखते। मैं तुम्हारी तरह यह तो नहीं मानता कि जो मनुष्य का हित है वही सत्य है पर महाभारत में इसी तरह के विचार का पता लगता है, अवश्य ही वह इससे जरा वृहत्तर भूमिका पर प्रतिष्ठित है। नारदजी ने शुकदेव से कहा था कि

यद्भूत हितमत्यन्तं, एतत् सत्यं मतं मम।

बलराज—(आश्चर्य से, अच्छा, इतनी पुरानी बात है यह! मैं महाभारत पढ़ूँगा।

शर्माजी—जरूर पढ़ो। मगर अभी तो मैं प्रतिज्ञा कर चुका

हूं कि तुम्हें शास्त्र-वाक्यों की व्याख्या नहीं पढ़ाऊँगा यद्यपि तुमने अब तक डार्विन और जेम्स वगैरह को जिस रूप में याद किया है वह शास्त्र-वाक्य की दुहाई से कुछ कम गर्हित नहीं है और सीधी बात को सीधी भाषा में मुझे कहने की हिदायत तुमने की है उसके साथ इस सारे शास्त्रार्थ का कोई सामंजस्य नहीं है। अब यदि तुम सुनना चाहो तो सीधी भाषा में मैं सीधे तौर पर तुम्हारे सारे सारे शास्त्रार्थ का निष्कर्ष बता दूँ।

पण्डितजी—जरूर बताइये।

शर्माजी—मुझे ऐसा लगा है कि जिस आशावाद और निराशावाद के विषय में आपलोगों में पक्ष-स्थापन की अहमहमिका पड़ गई थी वे वस्तुतः ऐसे अपूर्ण व्यक्तियों द्वारा उद्भावित हैं जो सामयिक सुख-दुःखों से अभिभूत हो जाते हैं। उन्हें आप्त हो कहा ही नहीं जा सकता, धीर भी नहीं कहा जा सकता। ऐसे लोगों के द्वारा स्थापित मत अस्थिर और असत्य हैं, वे काल की कसौटी पर दस-पन्द्रह वर्ष भी नहीं टिक सकते। इसके विरुद्ध उस मत को देखा जो जीवन व्यापिनी साधना से उद्भावित हैं, जिनकी सत्यानुभूति को बार-बार अनुभव किया गया है, प्रश्न-पर-प्रश्न तक तपस्या की गई है। तुम इस प्रकार की बहस में उस मत को नहीं खींच सकते। वह मत 'टेबिलटॉक' का विषय नहीं है। वह साधना का विषय है। हमारा साहित्य उसी को केंद्र करके गठित हुआ है। उसमें आशावाद और निराशावाद के उतार-चढ़ाव नहीं दिखते।

रत्नकरजी—देखो पण्डितजी शर्माजी ने जो बात कही है

उसको गहराई में जाना चाहिए। भारतीय-साहित्य इस मशीन के बनने या उस थ्योरी के आविष्कृत होने से प्रभावित नहीं हुआ। वह एक शाश्वत सत्य में प्रतिष्ठित है। तुम इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकते।

पण्डितजी---(कुछ अनमने से होकर) हाँ साहब, आपकी बात मानूँ तो कैसे और न मानूँ तो कैसे? एक दिन कैलाश की देवदारु-द्रुम-वेदिका पर निर्वात-निष्कम्प प्रदीप की भाँति स्थिर भाव से आसीन महादेव के सामने अपने यौवन-भार से दबी हुई वसन्त-पुष्पों की आभरण-धारिणी पार्वती जब पुष्प-स्तवक के भार झुकी हुई संचारिणी पल्लविनी लता की भाँति उपस्थित हुई थीं और अपने नील अलकों में शोभामान कर्णिकार तथा कानों में विराजमान नव किसलय-दल को असावधानी से विस्रस्त करती हुई उस तपस्वी के पद-प्रान्त में झुकी थीं तो योगिराज क्षणभर के लिये चंचल हो उठे थे, उन्होंने बरबस अपने विलोचनों को पार्वती के मयंक-मुख की ओर व्यापारित किया था, उन्होंने क्षणभर के लिये सारे संसार को मधुमय देखा था--अशोक कंधे पर से फुट पड़ा था, नकुल कंटकित हो गया था, न इसने सुन्दरियों के आसिंजित नूपुर-ध्वनि की प्रतीक्षा की; न किसी ने उसके गंडूप सेक की! किन्तु एक ही क्षण में योगासनासीन महादेव संभल गये। उन्हें किसी अपदेवता का कुसुम बाण-संधान उचित नहीं जान पड़ा। जब तक आकाश में मरुतगण क्रोध शमन करने के लिए हाहाकार करने जाते हैं

तब तक कामदेव कपोत कर्कर-भस्म में परिणत हो गया! किशोरी पार्वती का कोमल हृदय अपने सौन्दर्य की व्यर्थता से झुंझला उठा, उन्होंने इस व्यर्थता को दूर करने के लिये कठोर तपस्या की ठानी। प्रथम दर्शन के प्रेम पर, वाह्यरूप के आकर्षण पर क्षण-क्षण भर में वज्रपात करा के समस्त हिमालय के सौंदर्य को एक तरफ फेंककर कालिदास त्याग और तपस्या का आयोजन इस मस्ती से कराने में जुट गए मानों कुछ हुआ ही नहीं, मानों कुमारसम्भव के प्रथम तीन सर्ग माया थे, कवि का उन पर कोई मोह नहीं, ममता नहीं, प्रीति नहीं। क्योंकि वे मनुष्य को और उसकी इस दुनिया को ही सब कुछ नहीं मानते थे। कुछ और भी है, इस दृश्यमान सौंदर्य के उस पार, इस भासमान जगत् के अन्तराल में कोई एक शाश्वत सत्ता है जो इसे मंगल की ओर ले जाने के लिये कृत-निश्चय है। परन्तु आज वह जमाना नहीं रहा। हम बदल गए हैं, हमारी दुनिया बदल गई है, हमारे विश्वास हिल गये हैं, हमारी ऐहिकता बढ़ गई है—"तेहि नो दिवसा गतः।"

मोहन०—नहीं पंडितजी, कैसे कहा जाय कि वे दिन बीत गए। आज भी वह मायालोक आपको अभिभूत किए है, आज भी आप उसमें रस ले रहे हैं।

शर्माजी—हम बदल सकते हैं, हमारी दुनिया बदल सकती है, हमारे विश्वास हिल सकते हैं पर कालिदास का वह मायालोक सत्य है। हमारे बदलने—न बदलने की वह परवा नहीं करता।

हमने क्या महात्माजी को ठीक-ठीक समझने की कोशिश की है? शायद नहीं। महात्माजी के कथन का ठीक-ठीक अर्थ क्या है, यह बात हम यहाँ नहीं उठावेंगे,—उसको ठीक-ठीक समझाना अपने बूते की बात भी नहीं, परन्तु हमने उसे कैसा समझा है, यही सवाल हम उठाना चाहते हैं।

जैसा कि शुरू में इशारा किया है, हमने हिन्दी के प्रचार को केवल भाषा का प्रचार कभी नहीं समझा, उसमें साहित्य और संस्कृति को भी सानते हैं; परन्तु अपनी यह मनोवृत्ति अपने ही निकट स्पष्ट नहीं थी। शायद इतने दिनों बाद हम उस मनोवृत्ति के विश्लेषण करने योग्य अवस्था में पहुँच गए हैं। यहाँ यही प्रयास किया जा रहा है।

राष्ट्र-भाषा के प्रसंग में हम सदा सूर-तुलसी और कबीर के नाम लेते रहे, अर्थात् हमने अपने प्राचीन साहित्य से इसे अलग नहीं माना, दूसरी ओर आमफ़हम भाषा की बात भी करते रहे, और इसका अर्थ यह समझते रहे कि वही भाषा राष्ट्र की भाषा हो सकती है, जिसे देश की अधिक से-अधिक जनता बोलती और समझती है। इन दोनों बातों का कोई सामंजस्य खोज निकालने की कोई जरूरत हमने नहीं समझी। हमें आपाततः ऐसा दिखता रहा कि इन दोनों बातों में कोई विरोध नहीं है। सच पूछा जाय तो विरोध सचमुच नहीं है। पर आमफ़हम भाषा कहकर उसका अर्थ हम इस युग में सर्वाधिक प्रचलित भाषा समझते रहे। यहीं विरोध है। समृद्ध साहित्य की भाषा निश्चय

ही वही होती है और होनी चाहिये, जो अधिक प्रचलित हो; पर उसका प्रचार केवल देश में नहीं काल में भी होना चाहिये। साहित्य में प्रयुक्त प्रत्येक शब्द का अपना इतिहास होता है, और इसीलिए प्रत्येक शब्द के इर्द गिर्द एक वायुमडल बना रहता है। यह वायुमंडल हमें अनिर्वचनीय रस का साक्षात्कार कराता है। एक उदाहरण लेकर समझा जाय। श्री मैथिलीशरण गुप्त को हम राष्ट्रीय कवि कहते आये हैं। उन्होंने एक जगह लिखा है:—

अब कठोर हो वज्रादपि हे कुसुमादपि सुकुमारी,
आर्य-पुत्र दे चुके परीक्षा अब है मेरी बारी।

इस कविता के 'वज्रादपि' और 'कुसुमादपि' प्रयोग को 'संसकिरत लफ्ज' कहकर उड़ा देनेवालों की संख्या कम नहीं मिलेगी : पर जिन्हें इन शब्दों का इतिहास मालूम है, जिन्हें भवभूति और तुलसीदास की जादूभरी लेखनी का कुछ परिचय है, वे इन्हीं शब्दों से उल्लसित हो उठेंगे। उनके लिए शब्द का केवल देश में प्रचलित होना पर्याप्त नहीं है, काल से भी उसका अविछिन्न सम्बन्ध होना चाहिये। रवीन्द्रनाथ के 'आजि आषाढ़ेर प्रथम दिवसे' वाली कविता का सम्पूर्ण रस मेघदूत के युग की भाषा के ऊपर निर्भर है। जो लोग भाषा को साहित्य से अलग करके सोच सकते हैं, वे ही इस युग में प्रचलित आम-फहम भाषा की बात सोच सकते हैं। सूर, तुलसी और कबीर के साथ-साथ भाषा की चिन्ता करनेवाले इस तरह नहीं सोच सकते। पर हम सोचते ऐसा ही रहे हैं!